

समीक्षा-लेख

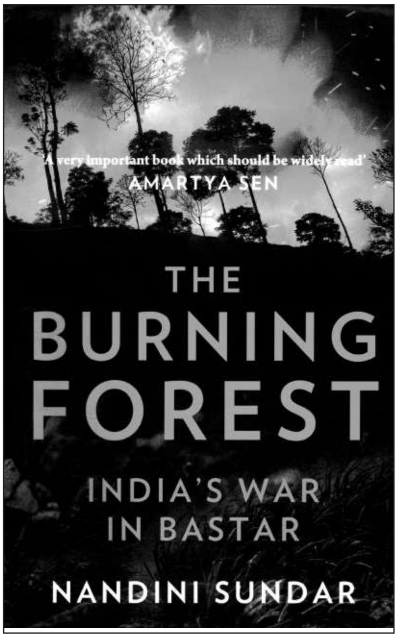
सलवा जुडूम

राज्य, माओवाद और हिंसा की अंतहीन दास्तान

कमल नयन चौबे

छत्तीसगढ़ के दक्षिण में अविभाजित बस्तर का इलाक़ा तक़रीबन 39,114 वर्ग किलोमीटर में फैला हुआ है। यह क्षेत्र माओवादी छापामारों द्वारा भारतीय राज्य के ख़िलाफ़ युद्ध का मुख्य केंद्र है। अस्सी के दशक के आरम्भ से माओवादियों ने बस्तर में मज़बूती से क़दम जमाना आरम्भ किया। उन्होंने स्थानीय ठेकेदारों, वन विभाग और नौकरशाही के तानाशाही रवैये के ख़िलाफ़ आदिवासियों को संगठित करते हुए अपने प्रभाव का विस्तार किया। इस क्षेत्र में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (माओवादी) [1] ने अपनी *जनताना* सरकार स्थापित की, हालाँकि इस सरकार के प्रभाव-क्षेत्र की सीमा रेखा स्पष्ट नहीं है। भारत सरकार (विशेषकर कांग्रेस सरकार के प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह) ने माओवादी छापामारों को 'देश की आंतरिक सुरक्षा का सबसे बड़ा ख़तरा' बताया, तथा मध्य भारत में बस्तर को उनके मुख्यालय के तौर पर वर्णित किया। 2005 में भारत सरकार ने माओवादियों के

[1] 2004 में दो बड़े नक्सली समूहों पीपुल्स वॉर ग्रुप और माओइस्ट कम्युनिस्ट सेंटर के विलय के बाद भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (माओवादी) का गठन हुआ.



द बर्निंग फ़ॉरेस्ट : इण्डियाज वार इन बस्तर
नंदिनी सुंदर
जगरनॉट, के.एस. हाउस, 118 शाहपुर जाट, नयी दिल्ली-110049
मूल्य : 699 रु., पृष्ठ : 424.

नियंत्रण वाले क्षेत्रों को उनसे छीनने के लिए सघन प्रयास आरम्भ किया। दरअसल, भारत सरकार के नज़रिये से देखें, तो माओवादियों के वर्चस्व के कारण यहाँ की अकूत खनिज सम्पदा और राज्य की वास्तविक सम्प्रभुत्ता— दोनों ही दाँव पर लगी हुई थी।

इस संदर्भ में पहला क़दम तथाकथित जनआंदोलन सलवा जुडूम को बढ़ावा देने के रूप में निकला। इसका गोण्डी भाषा में शाब्दिक अर्थ होता है 'शुद्धीकरण शिकार'।[2] सलवा जुडूम बस्तर में माओवादियों के ख़िलाफ़ राज्य द्वारा चलाया गया अभियान था, जिसमें आदिवासियों के एक समूह को हथियारबंद किया गया। जिन गाँवों में माओवादियों का प्रभाव माना जाता था, वहाँ के लोगों को ज़बरन उनके गाँव से निकाल कर कैम्पों में रहने के लिए मजबूर किया गया। इस पूरी प्रक्रिया में आगज़नी, हत्या, बलात्कार आदि जैसे जघन्य अपराध हुए। विडम्बना यह थी कि सलवा जुडूम अभियान को छत्तीसगढ़ के दो प्रमुख राजनीतिक दलों भारतीय जनता पार्टी (भाजपा) और कांग्रेस के प्रमुख नेताओं का समर्थन प्राप्त था। नंदिनी सुंदर की पुस्तक *द बर्निंग फ़ॉरेस्ट : इण्डियाज वॉर इन बस्तर* सिलसिलेवार तरीक़े से वर्णन करती है कि किस तरह सरकार और माओवादियों के बीच सशस्त्र संघर्ष ने भारत के कुछ सबसे ग़रीब और सबसे दुर्बल नागरिकों के जीवन को बरबाद कर दिया है। इस समय बस्तर देश के सर्वाधिक सैन्यीकृत क्षेत्रों में से एक है। यह भी अपने आप में संयोग नहीं है कि भारत में सबसे ज़्यादा संचित खनिज सम्पदा बस्तर में ही है।

इस समीक्षा-आलेख में नंदिनी सुंदर की इस पुस्तक को केंद्र में रखते हुए बस्तर में सलवा जुडूम अभियान की पृष्ठभूमि, इसके कारण हुई अमानवीय ज़्यादतियों और माओवादी राजनीति और भारतीय राज्य के बीच प्रतियोगी हिंसा के लोकतांत्रिक मूल्यों पर पड़ने वाले प्रभावों का विश्लेषण किया गया है।[3] यह पुस्तक लेखिका की गहन क्षेत्र-यात्राओं, सक्रिय भागीदारी, अदालत में आदिवासियों द्वारा दिये गये बयानों और सरकारी दस्तावेज़ों पर आधारित है तथा इसमें सरकारी दलों, मीडिया, मानव अधिकार कार्यकर्ताओं और न्यायपालिका की प्रतिक्रिया का भी वर्णन और विश्लेषण किया गया है। क्या एक लोकतांत्रिक राज्य द्वारा किसी विद्रोही समूह की हिंसा से निपटने के लिए नागरिकों के एक समूह को सशस्त्र बनाने को न्यायोचित माना जा सकता है? क्या सत्ता पक्ष और विपक्ष की 'आम-सहमति' के आधार पर देश की जनसंख्या के एक हिस्से को उसके घर-बार और खेत-खलिहान से दूर करके सरकारी कैम्पों में बसाए जाने को उदारतावादी लोकतंत्र के सैद्धांतिक ढाँचे में अनुकूलित किया जा सकता है? क्या ऐसी 'आम सहमति' की स्थिति में भारतीय लोकतंत्र की संस्थागत व्यवस्था, दलीय प्रणाली, मीडिया और नागरिक समाज के संगठन

[2] नंदिनी सुंदर (2016) : XIV.
[3] यद्यपि यह समीक्षा-लेख मुख्य रूप से नंदिनी सुंदर की पुस्तक के आलोचनात्मक विश्लेषण पर ध्यान केंद्रित करता है, किंतु इसमें सलवा जुडूम से संबंधित अन्य अध्ययनों की भी सहायता ली गयी है.



राज्य ने ... निगरानीवाद (विजलांतिज़्म) को बढ़ावा दिया। ... दो प्रमुख राष्ट्रीय दलों की सहमति से नागरिकों के एक समूह को हथियार देकर उसे नागरिकों के दूसरे के ख़िलाफ़ सक्रिय किया गया, राज्य की मानवाधिकार आयोग जैसी संस्थाएँ बेबस नज़र आयीं और नागरिक समाज तथा समाचार माध्यमों का एक बड़ा हिस्सा इस अलोकतांत्रिक और अमानवीय अभियान का समर्थक बन गया।

इतने जीवंत साबित हुए हैं कि वे 'बहिष्करण और हिंसा का सामना कर रहे अल्पसंख्यक समूह के अधिकारों के पक्ष में खड़े हो पाएँ'?

यह समीक्षा-आलेख आठ भागों में विभक्त है। पहले भाग में माओवाद के संदर्भ में हाल में प्रकाशित विविध साहित्य के संदर्भ में नंदिनी सुंदर की पुस्तक को अवस्थित करके इसकी विशिष्टताओं को रेखांकित किया गया है। दूसरे भाग में, बस्तर की स्थिति, यहाँ माओवादियों के प्रभाव और सलवा जुडूम की पृष्ठभूमि का वर्णन किया गया है। तीसरे भाग में सलवा जुडूम के आरम्भ, उस दौरान आदिवासियों के विस्थापन और अन्य प्रमुख घटनाओं का वर्णन है। चौथे भाग में राजनीतिक दलों की प्रतिक्रिया और भूमिका का विश्लेषण है। पाँचवाँ भाग नागरिक समाज संगठनों, मानवाधिकार आयोग जैसी राज्य की संस्थाओं और मीडिया की भूमिका का परीक्षण करता है। छठे भाग में सलवा जुडूम के बारे में न्यायालय के फ़ैसले, उसकी सीमाओं और उसके बाद की स्थिति वर्णित की गयी है। सातवाँ भाग इस अध्ययन की सीमाओं को रेखांकित करता है तथा आठवें भाग में इस शोध-आलेख का निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है।

I
माओवाद संबंधी साहित्य का परिप्रेक्ष्य

नक्सलवाद या माओवाद ने अपने उदय के समय से ही विद्वानों और अनुसंधानकर्त्ताओं को अपनी ओर आकर्षित किया है।[4] इस आंदोलन से जुड़े बहुत से कार्यकर्त्ताओं ने भी अनुसंधानपरक पुस्तकें लिखी हैं, जिससे इस आंदोलन के लक्ष्यों, इसके सामाजिक आधार, इसकी राजनीतिक रणनीति इत्यादि के बारे में गहरी समझ बनती है। लेकिन पिछले एक दशक में माओवादी आंदोलन के बारे में ज़्यादा चर्चा होने लगी है और बहुत सी अनुसंधानपरक, सैद्धांतिक विमर्शों और यात्रा-संस्मरणों से संबंधित पुस्तकों की रचना हुई है। भारतीय राज्य के सुरक्षा प्रशासन से जुड़े लोगों के मार्गदर्शन से संबंधित पुस्तकों की भी रचना की गयी है। अल्पा शाह और ध्रुव जैन ने हाल के वर्षों में माओवाद से संबंधित पचास प्रमुख पुस्तकों का विश्लेषण किया है। इनके अनुसार, माओवाद से संबंधित पुस्तकों को पाँच

---

[4] ग़ौरतलब है कि नक्सलवाद शब्द का प्रयोग 1967 में पश्चिम बंगाल के नक्सलबाड़ी आंदोलन से आरंभ हुआ. इस आंदोलन के नेताओं ने मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओ विचार के प्रति अपनी आस्था व्यक्त की थी. आजकल इनके लिए माओवादी और नक्सलवादी दोनों ही शब्दों का अदल-बदल कर प्रयोग किया जाता है. इस आलेख में भी इनके लिए माओवादी और नक्सलवादी— दोनों शब्दों का प्रयोग किया गया है. मसलन देखें, सुमंत बनर्जी (1980); मनोरंजन मोहंती (2015).

भागों में विभक्त किया जा सकता है। पहली श्रेणी की पुस्तकें मुख्य रूप से समाजशास्त्रियों, राजनीति वैज्ञानिकों, सुरक्षा अध्ययन विशेषज्ञों और प्रशासकों द्वारा लिखी गयी हैं। ये नक्सलवाद को भारतीय राज्य के दृष्टिकोण से देखते हैं और इसे एक ऐसी समस्या मानते हैं जिसे हल किये जाने की आवश्यकता है। ये नक्सलवादियों के ख़िलाफ़ भारत की सैन्य प्रतिक्रिया पर भी आलोचनात्मक टिप्पणियाँ करते हैं।[5] दूसरी श्रेणी में उन पुस्तकों के लेखकों को सम्मिलित किया जा सकता है जो क्रांतिकारी सामाजिक परिवर्तन की नक्सलवादी परियोजना और इसके प्रतिपादकों को गम्भीरता से लेते हैं। ये लेखक भारतीय राज्य और इसके लोकतंत्र की प्रकृति पर गहराई से विचार करते हैं और भारत में क्रांतिकारी हिंसा के विस्तार की व्याख्या करते हैं। इनमें से कुछ उत्साहपूर्वक भारतीय राज्य की तरफ़दारी करते हैं और नक्सलवादियों को चरमपंथियों की संज्ञा देते हैं।[6] वहीं कुछ अन्य नक्सलवाद के प्रसार के आधार के रूप में काम करने वाली समस्याओं पर गहनता से विचार करते हैं।[7] तीसरी श्रेणी में ऐसे पत्रकार और एक्टिविस्ट शामिल हैं, जिन्होंने अपनी यात्रा संस्मरणों के माध्यम से माओवादियों के रोज़मर्रा के संघर्ष की रूपरेखा प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।[8] चौथी श्रेणी में ऐसे समाजशास्त्रियों और मानवशास्त्रियों का विश्लेषण सम्मिलित है, जो अपने अनुभवसिद्ध अध्ययन के आधार पर माओवादियों का भाग बन चुके दमित समुदायों के अनुभवों को प्रस्तुत करते हैं। इस श्रेणी में ऐसे कई उपन्यास भी सम्मिलित हैं जिन्होंने क्रांतिकारी राजनीति और गोलबंदी द्वारा पारम्परिक परिवार की संरचना के आदर्शों को मिलने वाली चुनौती को रेखांकित किया है।[9] पाँचवीं श्रेणी में उन पुस्तकों को शामिल किया गया है, जो खुद नक्सलवादी आंदोलन में भागीदारी करने वाले या फिर इस आंदोलन से नज़दीकी रूप से जुड़े रहे लोगों के द्वारा लिखा गया है।[10]

ग़ौरतलब है कि अल्पा शाह और ध्रुव जैन ने नंदिनी सुंदर की पुस्तक को भी चौथी श्रेणी अर्थात् अनुभवसिद्ध समाजशास्त्रीय और मानवशास्त्रीय पुस्तकों की श्रेणी में रखा है। किंतु नंदिनी सुंदर की पुस्तक इसलिए विशिष्ट है क्योंकि यह पिछले डेढ़ दशकों के दौरान राज्य द्वारा माओवादी हिंसा के नाम पर शुरू किये गये विद्रोह-विरोधी अभियान और इसमें नागरिकों को हथियारबंद करने के प्रयोग अर्थात् सलवा जुडूम का विशद् अनुभवसिद्ध अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इस अर्थ में यह माओवादी आंदोलन के विभिन्न आयामों के विशद् वर्णन के बजाय हिंसक विद्रोह और विद्रोह विरोधी गतिविधियों के बीच जुझते आदिवासी समुदाय की दास्तान है। साथ ही, इस पुस्तक में सलवा जुडूम और लोकतंत्र के विभिन्न स्तम्भों अर्थात् कार्यपालिका, राजनीतिक दल, नागरिक समाज, मीडिया, मानवाधिकार आयोग जैसी स्वायत्त संस्थाओं और सर्वोच्च न्यायालय की अंत:क्रिया का विश्लेषण भी प्रस्तुत किया गया है।[11]

---

[5] इस श्रेणी में रॉबिन जेफ़्री, रॉनोजॉय सेन और प्रतिमा सिंह (2012); रंजीत भूषण (2016); संतोष पॉल (2013); संतोष मल्होत्रा (2014); अनुराधा मित्र चिनॉय और कमल मित्र चिनॉय (2010) तथा पी. सी. जोशी (2013); (2014) को सम्मिलित किया जा सकता है.

[6] नक्सलवादियों की आलोचना और भारतीय राज्य की तरफ़दारी करने वाली पुस्तकों में निर्मलांशु मुखर्जी की किताब सर्वप्रमुख है. देखें, निर्मलांशु मुखर्जी (2012).

[7] मसलन, देखें, नीरा चंडोख (2015); विद्युत चक्रवर्ती और आर.के. कुजूर (2010); गौतम नवलखा (2014); मनोरंजन मोहंती (2015); अजय गुडावर्दी (2014).

[8] सतनाम (2010); अरुंधती रॉय (2011); गौतम नवलखा (2012); जॉन मिर्डाल (2012); राहुल पंडिता (2011); शुभ्रांशु चौधरी (2012).

[9] मसलन देखें, श्रीला रॉय (2012); मल्लारिका सिन्हा रॉय (2011). माओवादी आंदोलन संबंधी उपन्यास के उदाहरण के रूप में देखें, झुम्पा लाहिड़ी (2013); नील मुखर्जी (2014).

[10] मसलन देखें, आज़ाद (2010); अनुराधा गाँधी (2011).

[11] उल्लेखनीय है कि विषय पर नागरिक समाज के जाँच-दलों ने कई रपटें प्रकाशित कीं. ऐसे कुछ जाँच दलों में खुद नंदिनी सुंदर भी शामिल थीं. इन रपटों के बारे में आलेख के तीसरे भाग में विस्तार से बताया गया है. इसके अलावा, नंदिनी सुंदर ने इस विषय पर कई आलेख प्रकाशित किये. देखें, नंदिनी सुंदर (2006).



राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने भी माओवादियों के ख़िलाफ़ चलने वाले इस हिंसक अभियान को अपना समर्थन प्रदान किया। संघ हमेशा से ही वामपंथी समूहों को अपना प्राथमिक शत्रु मानता आया है। इसके द्वारा प्रकाशित एक रपट में माओवादियों और वनवासी कल्याण आश्रम, विद्या भारती जैसे इसके संगठनों तथा गायत्री परिवार जैसे इसके विचारधारात्मक रूप से निकटवर्ती संगठनों के बीच संघर्ष के इतिहास का वर्णन किया गया।

नंदिनी सुंदर की यह किताब मुख्य रूप में तीन भागों में विभाजित है। पहले भाग में चार, दूसरे भाग में छह और तीसरे भाग में सात अध्याय हैं। इस किताब के आरम्भ में एक पूर्वकथन और अंत में एक पश्चकथन दिया गया है। किताब के पहले भाग में सलवा जुडूम को शोषण के सामाजिक ताने-बाने में अवस्थित किया गया है और प्रतिरोध के आरम्भ का वर्णन किया गया है। दूसरे भाग में माओवादियों के ख़िलाफ़ बग़ावत-विरोधी (काउंटर इंसर्जेंसी) कार्रवाई के विविध रूपों का वर्णन किया गया है तथा यह विश्लेषण किया गया है कि भारत के आदिवासी नागरिकों के लिए सशस्त्र संघर्ष के बीच फँस जाने का क्या अर्थ है। किताब के तीसरे भाग में इस प्रश्न पर गहराई से विचार किया गया है कि एक फ़ौजी शासन या औपनिवेशिक सरकार के बजाय जब एक लोकतांत्रिक सरकार द्वारा चलाए जाने वाले विद्रोह-विरोधी अभियान में क्या अंतर होता है। कल्याणकारी नौकरशाही से लेकर राजनीतिक दलों, मानव अधिकार संगठनों मीडिया और न्यायपालिका जैसे विभिन्न संस्थाओं और कर्त्ताओं ने इस संकट के बारे में किस प्रकार की प्रतिक्रिया दी?

लेखिका ने इस किताब के लक्ष्य को इन शब्दों में स्पष्ट किया है : 'सरकार यह समझती है कि माओवादी आंदोलन क़ानून और व्यवस्था की समस्या है और इसलिए इस आंदोलन का दमन किया जाना चाहिए। माओवादी और उनके हमदर्द अपने क्रांतिकारी विश्वासों को सुनिश्चित मानते हैं। यह पुस्तक इन दोनों के ख़िलाफ़ लिखी गयी है। यह उन सभी लोगों के लिए लिखी गयी है जो भारतीय राज्य के उस रवैये और अहंकार से नफ़रत करते हैं जो ख़ुद को किसी भी दण्ड से परे मानता है। यह उन लोगों के लिए भी लिखी गयी है जो माओवादियों के बलिदानों की प्रशंसा करते हैं किंतु उनके द्वारा अपनाए गये रास्ते से असहमत हैं, और जो यह मानते हैं कि अन्याय के ख़िलाफ़ होने वाली हिंसा भी क्रूरता और भ्रष्टाचार में तब्दील हो सकती है। यह पुस्तक उन सभी आम आदिवासियों के लिए लिखी गयी है जिन्हें मैं जानती हूँ, और जो जटिल पाबंदियों के बीच कठिन नैतिक चुनाव कर रहे हैं। उनमें से बहुत का साहस मेरी कल्पना से भी परे है। वर्तमान परिस्थितियों में सिर्फ़ अपना अस्तित्व बचाए रखने के लिए उन्हें असाधारण प्रयास करना पड़ रहा है।'[12]

---

[12] नंदिनी सुंदर (2016) : xiv-xv.

II

बस्तर : खनिज सम्पदा और माओवादी राजनीति की भूमि

छत्तीसगढ़ का बस्तर क्षेत्र प्राकृतिक संसाधनों से बहुत ही समृद्ध है। ग़ौरतलब है कि वर्तमान छत्तीसगढ़ के बस्तर सम्भाग में सात ज़िले सम्मिलित हैं : बस्तर, कोंडागाँव, कांकेर, दाँतेवाड़ा, सुकमा, नारायणपुर, बीजापुर। इन सभी ज़िलों अनुसूचित जनजातियों की जनसंख्या सबसे ज़्यादा है।[13] इस क्षेत्र में बहुत से गोण्डी बोलने वाले समूह रहते हैं, जो खुद को कोई, कोया या कोईतोर के रूप में वर्णित करते हैं, जिसका अर्थ होता है मनुष्य। बस्तर के प्रमुख अनुसूचित जनजाति या आदिवासी समुदायों में हल्बा, भाटरा, ध्रुवा (मडिया और मुड़िया) आदि प्रमुख हैं। ये सभी क्षेत्र कमोबेश माओवाद से प्रभावित हैं किंतु दाँतेवाड़ा, सुकमा, नारायणपुर और बीजापुर के क्षेत्रों में यह प्रभाव तुलनात्मक रूप से ज़्यादा है। बस्तर क्षेत्र की खनिज सम्पदा में बॉक्साइट, प्लेटिनम, कोरण्डम (कुरुविंद), डोलोमाइट, लाइमस्टोन (चूना पत्थर) आदि के अतिरिक्त देश के कुल लौह अयस्क का दस प्रतिशत सम्मिलित है। इस खनिज सम्पदा से राज्य को काफ़ी राजस्व मिलता है। किंतु अब इसमें से खनिजों के निष्कर्षण का काम निजी हाथों में चला गया है। इस क्षेत्र में खनिज संसाधनों औपचारिक सरकारी खनन के साथ ही साथ अनौपचारिक निजी निष्कर्षण भी होता है। पुलिस की सहायता से काफ़ी बड़ी मात्रा में इन खजिन पदार्थों को अवैध तरीक़े से दूसरे स्थानों पर ले जाया जाता है।[14]

बस्तर क्षेत्र में मौजूद अमूल्य खनिज सम्पदा के कारण सरकार को इस्पात संयंत्र स्थापित करने, खनन को बढ़ावा देने आदि की काफ़ी सम्भावनाएँ नजर आती हैं। मसलन, मई, 2015 में प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने दाँतेवाड़ा में यह घोषणा की कि सरकार जगदलपुर के दक्षिण में स्थित डिलमिली में 24,000 करोड़ का बहुत बड़ा इस्पात संयंत्र स्थापित करेगी, बैलाडीला में एनडीएमसी के मौजूदा लौह अयस्क खनन क्षेत्र के निकट बचेली-किरांदुल में एक करोड़ टन का प्रसंस्करण प्लांट लगाएगी, जगदलपुर के उत्तर में स्थित रावघाट खान से लौह अयस्क लाने के लिए रेलवे लाइन बिछाई जाएगी तथा नागरनार में सलरी (घोल) पाइप और पेलेट प्लांट की स्थापना की जाएगी।[15] इस संदर्भ में राज्य ने निजी उद्यमियों की भूमिका को भी लगातार बढ़ावा दिया है।

नंदिनी सुंदर ने इस प्रकार के विकास के मॉडल की भयावहता को दर्शाते हुए लिखा है कि 'यदि सरकार की मर्जी चलती तो जगदलपुर इस्पात संयंत्रों से घिरा होता और यह पूरे क्षेत्र में लौह अयस्क और अन्य खनिजों को ले जाने वाली पाइपलाइन, रोड और रेलवे लाइनों का जाल बिछा होता। जहाँ खान नहीं है वहाँ उद्योगों को बिजली आपूर्ति करने के लिए बाँध बनाए जाएँगे : यदि आंध्र प्रदेश का पोलावरम बाँध पूरा हो जाएगा तो कोंटा ब्लॉक का अधिकांश हिस्सा पानी में डूब जाएगा, वहीं बोधघाट हाइड्रोइलेक्ट्रिक प्रोजेक्ट से— जिसे पहले रोक दिया गया था, किंतु जिस पर फिर से काम चल रहा है— दाँतेवाड़ा के गाँव में बाढ़ आ जाएगी। खानों, बाँधों, तथा मरदुम के सुरक्षा केंद्र और कांकेर के जंगल वारफेयर कॉलेज जैसी सुरक्षा केंद्रों की स्थापना होने से इस क्षेत्र की गहन जैवविविधता अतीत की वस्तु बन जाएगी।'[16]

बहरहाल, 1970 के दशक के आख़िरी वर्षों में नक्सलवादियों या माओवादियों ने इस क्षेत्र में अपना काम आरम्भ किया। जंगल में वन विभाग के अधिकारियों के मनमाने व्यवहार से आदिवासियों

---

[13] सम्पूर्ण बस्तर क्षेत्र के मानवशास्त्रीय इतिहास के लिए देखें, नंदिनी सुंदर (1997).

[14] नंदिनी सुंदर के अनुसार, 'दांतेवाड़ा के एक पत्रकार के अनुसार हर रात 14-15 ट्रक 1 -40 टन लौह अयस्क को एनडीएमसी (नैशनल मिनरल्स डिवेलपमेंट कॉरपोरेशन) के खनन क्षेत्र से अवैध रूप से बचेली और किरान्दुल के स्पंज लौह प्लांट में ले जाए जाते हैं'. देखें, वही : 31.

[15] वही : 28.

[16] वही : 28-29.

को लगातार उत्पीड़न का सामना करना पड़ता था। बहुत से स्थानों पर माओवादियों ने न सिर्फ़ आदिवासियों के इस उत्पीड़न को ख़त्म किया, बल्कि उन्होंने यह भी सुनिश्चित किया कि उन्हें तेंदू पत्ता संग्रहण की उचित क़ीमत मिले तथा वे आसानी से जंगलों से अपने वनोपज ले पाएँ। अपने प्रभाव वाले अबूझमाड़ क्षेत्रों में उन्होंने अपनी सरकार गठित की, हालाँकि इसकी सीमा स्पष्ट नहीं है। इन क्षेत्रों में इन्होंने भूमि वितरण जैसे काम किये तथा कई स्थानों पर आदिवासियों की बुरी प्रथाओं पर भी रोक लगायी।[17] महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इन्होंने निजी कंपनियों द्वारा होने वाले खनन का विरोध किया और इनके प्रभाव क्षेत्रों में इस तरह का खनन तक़रीबन नामुमकिन हो गया था। दरअसल, सलवा जुडूम से संबंधित बहुत से अध्ययनों में यह दावा किया गया है कि खनन और इस क्षेत्र के बढ़ते फ़ौजीकरण के बीच गहरा जुड़ाव रहा है।

2003 में भारत ने अपनी खनन नीति का उदारीकरण किया। इस समय इस क्षेत्र में माओवादियों के नियंत्रण को तीव्र उद्योगीकरण और भूमि अधिग्रहण के रास्ते में एक प्रमुख बाधा के रूप में देखा गया। फ़ेडेरेशन ऑफ़ इण्डियन चैम्बर्स ऑफ़ कॉमर्स ऐंड इण्डस्ट्री (फ़िक्की) ने माओवादियों के ख़िलाफ़ सरकार की आक्रामक कार्रवाई का समर्थन किया।[18] बहुत से मानवाधिकार कार्यकर्त्ताओं ने यह तर्क दिया है कि सलवा जुडूम का उस समय शुरू होना कोई संयोग नहीं है जब राज्य सरकार ने जून 2005 में टाटा के साथ इस्पात संयंत्र लगाने के समझौते पर दस्तख़त कर दिये थे। इसी समय, इसार कम्पनी धुरली और भाँसी गाँवों में इस्पात संयंत्र के लिए ज़मीन के अधिग्रहण का प्रयास कर रही थी। टाटा और इसार— दोनों ही कम्पनियों को दौलाडीला की पहाड़ी से लौह अयस्क के खनन की अनुमति मिली थी। लेकिन पेसा क़ानून के अंतग़लत इन कम्पनियों को ग्राम सभा से अनुमति की आवश्यकता थी। लेकिन पुलिस प्रशासन की मदद से ग्राम सभा से ज़बरन अनुमति ली गयी। जिन लोगों ने हस्ताक्षर करने से मना किया, उन्हें जेल में डाल दिया गया।[19] इस संदर्भ में दरअसल, बड़ी कम्पनियों को यह अहसास हो गया था कि माओवादियों की मौजूदगी और पेसा जैसे क़ानूनों के कारण इस क्षेत्र में खनन के लिए भूमि अधिग्रहण करना अत्यंत कठिन कार्य है। माओवादियों के प्रभाव से खनिज पदार्थों से युक्त विभिन्न क्षेत्रों को मुक्त कराना सलवा जुडूम का असली मक़सद था।[20]

नंदिनी सुंदर यह मानती हैं कि खनन और संसाधनों का निष्कर्षण सलवा जुडूम के आरम्भ होने के प्रमुख कारण थे, किंतु इस संदर्भ में कई अन्य कारकों ने भी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। देश के कई अन्य भागों में भी भूमि अधिग्रहण हो रहा है, वहाँ भी पुलिस अमूमन कॉरपोरेट एजेंट के रूप में काम कर रही है तथा भूमि अधिग्रहण का विरोध कर रहे लोगों के ख़िलाफ़ हिंसा और गोली चलाने जैसी घटनाएँ हो रही हैं।[21] लेकिन यह भी सच है कि हर जगह संगठित रूप से सलवा जुडूम नहीं

---

[17] इस क्षेत्र में माओवादियों के आरंभिक कार्यों की जानकारी के लिए देखें, गौतम नवलखा (2012); जॉन मिर्डाल (2012); राहुल पंडिता (2011); नंदिनी सुंदर (2016)..

[18] वही : 32.

[19] वही : 33.

[20] पीयूडीआर और पीयूसीएल तथा इंडिपेंडेंट सिटीज़न इनिशिएटिव के जाँच दल की रिपोर्ट में भी इसे ही सलवा जुडूम के बुनियादी कारण के रूप में रेखांकित किया गया है.

[21] मसलन, ओडीशा के रायगढ़ ज़िले के मैकांच गाँव में बॉक्साइट खनन के लिए भूमि अधिग्रहण का विरोध करने वाले ग्रामीणों पर गोली चलाने से तीन लोग मारे गये (2001); झारखण्ड के राँची ज़िले के टपकारा में कोयल कारो बाँध का विरोध करने वाले आदिवासियों पर गोली चलाने से 9 लोग मारे गये (2001); मणिपुर के चुरंचरपुर ज़िले में खुगा बाँध का विरोध करने वाले लोगों पर गोली चलने से तीन लोग मारे गये; ओडिशा के कलिंगानगर में टाटा स्टील प्लांट का विरोध करने वाले लोगों पर गोली चलने से 12 लोग मारे गये (2006); पश्चिम बंगाल के नंदीग्राम में विशेष आर्थिक क्षेत्र के लिए भूमि अधिग्रहण करने वाले लोगों पर गोली चलने से 15 लोग मारे गये, देखें, नंदिनी सुंदर (2016) : 354; इस तरह, आदिवासियों को राज्य की हिंसा का लगातार सामना करना पड़ता है. देखें, ग्लैडसन डुंगडुंग (2013).; कमल नयन चौबे (2016).

हुआ। लेखिका यह रेखांकित करती हैं कि यदि सलवा जुडूम के आगे बढ़ने और उसके द्वारा गाँवों को चलाने की प्रक्रिया पर ध्यान दें तो यह बात स्पष्ट होती है कि आक्रमण का शिकार हुए गाँवों का खनन क्षेत्रों के साथ कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं है। पहले हमले में माओवादी के मजबूत प्रभाव वाले गाँवों को निशाना बनाया गया और जो गाँव रास्ते में पड़े उन्हें भी जला दिया गया। असल में, बस्तर में सलवा जुडूम के उभार के पीछे बहुत से हितों के संयोजन को देखा जा सकता है— दिल्ली का सुरक्षा तंत्र, पुलिस, खनन उद्योग, हिंदू अंधराष्ट्रवादी राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और बेरोज़गार युवक।[22]

असल में, सलवा जुडूम के कारण गाँवों के ख़ाली होने से कई व्यापारियों को ज़मीन का अधिग्रहण करने में आसानी हुई। मसलन, नंदिनी सुंदर एक ऐसे व्यापारी का उल्लेख करती हैं जिसने उस गाँव में ग्रेनाइट वाली तीन एकड़ ज़मीन ली, जहाँ के सारे लोग कैम्पों में रह रहे थे। इस व्यापारी ने यह अनुमान लगाया कि इस तीन हेक्टेयर ज़मीन से उसे 10–20 करोड़ रुपये का मुनाफ़ा होगा।[23] पंचायत (अनुसूचित क्षेत्र विस्तार) अधिनियम के मुताबिक़ इस तरह के भूमि अधिग्रहण के लिए ग्राम सभा का परामर्श आवश्यक है। किंतु चूँकि गाँव में कोई नहीं था, इसलिए प्रशासन ने आसानी से वह ज़मीन उस व्यापारी को दे दी।

III

'शांति अभियान' या विस्थापन और संगठित क्रूर हिंसा?

सलवा जुडूम के आरम्भ होने से पहले भी दो बार कांग्रेस नेता महेंद्र कर्मा ने माओवादियों के ख़िलाफ़ 'जन-जागरण अभियान' का आयोजन किया था। पहला जन-जागरण अभियान 1990 में बीजापुर ब्लॉक में हुआ। इसमें कर्मा[24] के नेतृत्व में पुलिस द्वारा प्रायोजित माओवाद विरोधी रैलियों का आयोजन किया गया। दूसरा जन-जागरण अभियान 1998 में भैरमगढ़ ब्लॉक में हुआ, जो बहुत कम समय तक चला। तीसरा, जन-जागरण अभियान भैरमगढ़ में कुतरु के आस-पास जून, 2005 में आरम्भ हुआ और अगस्त के आस-पास इसे सलवा जुडूम का नाम दिया गया।[25] जहाँ पहले के जन-जागरण अभियानों में पुलिस के समर्थन से माओवादी क्षेत्रों में रैलियों का आयोजन किया गया था, वहीं तीसरे जन-जागरण अभियान में बाक़ायदा आदिवासियों और अन्य समुदायों के युवाओं को हथियारबंद किया गया। जब 2005 में सलवा जुडूम आरम्भ हुआ तो मीडिया में इसे माओवादियों के ख़िलाफ़ 'लोकप्रिय' विद्रोह के रूप में प्रस्तुत किया गया। इसके एक दशक बाद भी सरकार इस बात पर बल देती रही कि 'यह नक्सलवादियों के ख़िलाफ़ खुद लोगों द्वारा शुरू किया गया स्वत:स्फूर्त आंदोलन है।' लेकिन हक़ीक़त यह है कि पुलिस और राजनेताओं ने 'लोगों' को गोलबंद किया। शासक दल भाजपा के मंत्रियों और कांग्रेस नेता महेंद्र कर्मा जैसे विपक्षी नेताओं ने माओवादियों के ख़िलाफ़ सार्वजनिक बैठकों और रैलियों (जन-जागरण अभियान) का आयोजन

---

[22] नंदिनी सुंदर (2016) : 34.

[23] वही : 31.

[24] महेंद्र कर्मा एक विवादास्पद नेता थे. यद्यपि कांग्रेस के प्रति अपनी समर्पित राजनीति के कारण 2003 के चुनावों के बाद ये छत्तीसगढ़ विधानसभा में विपक्ष के नेता बन गये. किंतु इनका नाम भ्रष्टाचार के बहुत से मामलों में सामने आया. इस संदर्भ में 1990 के मध्य में सामने आये मालिक मकबूजा घोटाले का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है. उस समय छत्तीसगढ़ मध्य प्रदेश का भाग था. आदिवासियों को यह अधिकार दिया गया था कि वे अपनी निजी ज़मीन के पेड़ों को काट कर बेच सकते हैं. महेंद्र कर्मा और इनके जैसे अन्य अमीर आदिवासियों ने ग़रीब आदिवासियों की ज़मीन को औने-पौने दाम पर खरीद कर उसमें लगे पेड़ों को काट कर बेचा और खूब मुनाफ़ा कमाया. 1997 में मध्य प्रदेश के लोकायुक्त की रिपोर्ट में इस घोटाले में महेंद्र कर्मा की भूमिका का विस्तार से उल्लेख किया गया. नंदिनी सुंदर ने अपनी पुस्तक में यह उल्लेख किया है कि 2005 में बहुत सारे लोगों ने उन्हें यह बताया कि कर्मा मालिक मकबूजा केस में सीबीआई के मुक़दमे से बचने के लिए जुडूम में शामिल हुआ. देखें, वही : 35.

[25] वही : 378–79.

किया। सरकारी बुलावे पर जो ग्रामीण इसमें शामिल हुए उन्हें जबर्दस्ती अन्य गाँवों की ओर होने वाले मार्च में सम्मिलित कर लिया गया।[26]

भारत में पहले तेलंगाना और मिजोरम ऐसे ही बग़ावत-विरोधी (काउंटर इंसर्जेंसी) अभियान चलाए गये थे, जिसमें पुलिस और सेना ने कार्रवाई की थी। बहरहाल, कम-से-कम शुरुआत में माओवादियों के ख़िलाफ़ सेना के प्रयोग को वैध नहीं माना गया क्योंकि सामाजिक और आर्थिक अधिकारों के संघर्ष को पृथकतावाद से अलग रखा गया। लेकिन 2009 से सरकार ने ग़ैर-राज्य कर्त्ताओं के उपयोग का दिखावा छोड़ दिया और उसने माओवादियों के ख़िलाफ़ ऑपरेशन ग्रीन हंट या राष्ट्रव्यापी कार्रवाई की शुरुआत की। इसमें सेंट्रल आर्म्ड पुलिस फ़ोर्सेज़ (सीएपीएफ़) का प्रयोग किया गया। सेंट्रल रिजर्व पुलिस फ़ोर्स (सीआरपीएफ़), बॉर्डर सिक्योरिटी फ़ोर्स (बीएसएफ़), इण्डो-तिब्बतियन बॉर्डर पुलिस (आईटीबीपी) तथा छत्तीसगढ़ पुलिस इसके घटक थे। इस रणनीति का एक मुख्य भाग स्थानीय लोगों को अर्द्धसैनिक बलों और पुलिस में शामिल करना था ताकि वे माओवादी प्रभाव से दूर रहें।[27] दरअसल, सलवा जुडूम के आरम्भ होने पर सरकार ने सबसे पहले ग्रामीण सुरक्षा समितियों के गठन का प्रस्ताव रखा, जिन्हें कश्मीर और नगालैण्ड की ऐसी ही समितियों की तरह हथियारबंद करने का प्रस्ताव था। किंतु यह प्रस्ताव कारगर साबित नहीं हुआ और इसके स्थान पर सरकार ने स्पेशल पुलिस फ़ोर्स (एसपीओ) का गठन किया। ऐसे अधिकांश एसपीओ पूर्व-माओवादी थे या उनके गाँव स्तर के कार्यकर्त्ता थे, जिन्हें संघम सदस्य के रूप में जाना जाता था। इन्हें जुडूम की रैलियों में आत्म-समर्पण करने के लिए मजबूर किया गया। पुलिस ने इनकी मदद से इनके पुराने साथियों की जानकारी एकत्रित की।[28]

जून, 2005 से फ़रवरी, 2006 के बीच भैरमगढ़ और बीजापुर ब्लॉक में बहुत से गाँवों को जलाया गया और लोगों को बलपूर्वक सलवा जुडूम कैम्प में आने के लिए मजबूर किया गया। फ़रवरी, 2006 में उसूर और कोंटा दलॉम में सलवा जुडूम का प्रसार हुआ, सैकड़ों गाँवों पर हमला किया गया तथा सुकमा-कोंटा राजमार्ग के आस-पास सलवा जुडूम के नये कैम्प बनें। फ़रवरी, 2006 से मार्च, 2007 तक इन सभी ब्लॉकों के गाँवों में सलवा जुडूम का हमला होता रहा। आंध्र प्रदेश की सीमा से लगे गाँवों पर हमला किया गया।[29] सलवा जुडूम के कैम्पों की स्थिति अमानवीय थी। जहाँ आदिवासी अपने पारम्परिक घरों में खुले रूप से रहते थे, वहीं अब वे कैम्पों के बंद वातावरण में एसपीओ की निगरानी में रहने के लिए मजबूर थे। हथियारों से लैस एसपीओ अकसर मनमाना व्यवहार करते थे। इस दौरान बड़े पैमाने पर हिंसा की वारदातें हुईं। गाँवों को जलाने के दौरान विरोध करने वालों की हत्या कर दी गयी और उन्हें माओवादी घोषित कर दिया गया। कई गाँवों में आदिवासी लड़कियों के साथ बलात्कार किया गया। माओवादियों ने भी हिंसक घटनाओं को अंज़ाम दिया। अप्रैल, 2010 में

---

[26] वही : 15-16.

[27] वही : 16.

[28] ग़ौरतलब है कि सरकार इससे पहले कश्मीर में इखवानी, असम में सुल्फा (सरेण्डर्ड यूनाइटेड लिबरेशन फ्रंट ऑफ़ आसाम) या पंजाब में 'कैट' के रूप में ऐसा प्रयोग कर चुकी थी. इन सभी मामलों में पूर्व-विद्रोहियों को हथियार देकर उनके पुराने साथियों की पहचान करने और उन्हें मारने की ज़िम्मेदारी दी गयी. सलवा जुडूम के संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि 2011 में सर्वोच्च न्यायालय ने विद्रोह-विरोधी ऑपरेशन के लिए स्थानीय युवकों के एसपीओ के रूप में इस्तेमाल करने को ग़ैर-कूननी घोषित कर दिया. राज्य सरकार ने तत्काल इस पर प्रतिक्रिया देते हुए एसपीओ का नाम बदलकर 'सहायक सशस्त्र पुलिस बल' (ऑक्ज़िलरी आर्म्ड पुलिस फोर्स) घोषित कर दिया. लेकिन इनका उपयोग पुराने तरीक़े से ही किया जाता रहा. 2013 में राज्य पुलिस ने एक बार फिर इनका नाम बदल दिया, और तक़रीबन 1700 युवकों के 'डिस्ट्रिक रिज़र्व गार्ड' की स्थापना की. इसमें 'निचले पायदान वाले पूर्व नक्सलवादियों, माओवादियों से हमदर्दी रखने वालों और सलवा जुडूम के दौरान विस्थापित हुए ग्रामीणों को शामिल किया गया'. 2016 में पुलिस ने एक बार फिर से 'ग्रामीण सुरक्षा समिति' के विचार मूर्त रूप देने का प्रयास शुरू कर दिया. देखें, वही : 21-22.

[29] वही : 378-380; इस पुस्तक के अध्याय 5 से लेकर 10 में सलवा जुडूम के दौरान हुई हिंसक घटनाओं का विस्तृत ब्योरा दिया गया है. नंदिनी सुंदर ने इसे 'सिविल वॉर' की संज्ञा दी है.

सीआरपीएफ़ के 70 जवानों की हत्या माओवादियों द्वारा किये गये सबसे वीभत्स संहारों में से एक था। निश्चित रूप से सलवा जुडूम ने हिंसा-प्रतिहिंसा के दौर को अत्यधिक बढ़ावा दिया, और इसका सबसे ज़्यादा ख़मियाजा आम आदिवासियों को ही भुगतना पड़ा। सरकारी आँकड़ों के अनुसार, 2005 से 2015 तक इस अभियान में 2419 लोग मारे गये।[30] निस्संदेह मारे गये लोगों की वास्तविक संख्या इससे काफ़ी ज़्यादा है।

सलवा जुडूम अभियान को नये असाधारण क़ानून से भी काफ़ी मदद मिली। असल में, क़ानून बगावत-विरोधी अभियानों में होने वाले अत्याचारों को रोकने में ज़्यादा कारगर साबित नहीं हुआ है। मिसाल के तौर पर, तथाकथित माओवाद प्रभावित गाँवों के लोगों को उनके गाँवों से बेदख़ल करके जबर्दस्ती कैम्पों में बसाना *पंचायत (अनुसूचित क्षेत्र विस्तार) अधिनियम* 1996 या पेसा के प्रावधानों को पूरी तरह उल्लंघन था, क्योंकि यह क़ानून पाँचवीं अनुसूची के गाँवों को अपनी परम्परा के अनुसार स्वायत्त जीवन जीने का अधिकार देती है। इसी प्रकार, 2006 में संसद द्वारा पारित वन अधिकार अधिनियम जंगल में या उसके आस-पास रहने वाले लोगों में जंगल की ज़मीन और उसके संसाधनों पर महत्त्वपूर्ण व्यक्तिगत और सामुदायिक अधिकार देता है। किंतु लोगों को बलात् उनके गाँव से निकाल कर सरकारी कैम्पों में भर देने की कार्रवाई न सिर्फ़ इस क़ानून का उल्लंघन था, बल्कि इसके कारण इन क्षेत्रों के लोग इन क़ानूनों से मिलने वाले अधिकारों से वंचित रह गये। छत्तीसगढ़ सरकार ने सलवा जुडूम और माओवादियों के ख़िलाफ़ सशक्त तरीक़े से अभियान चलाने के लिए सरकार ने क़ानून में मौजूदा प्रावधानों का इस्तेमाल किया तथा नये क़ानून भी बनाए। सितम्बर, 2005 में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (माओवादी) और इसके पक्ष में काम करने वाले कई संगठनों पर प्रतिबंध लगा दिया। दिसम्बर, 2005 छत्तीसगढ़ सरकार ने छत्तीसगढ़ *स्पेशल पब्लिक सिक्योरिटी एक्ट* पारित किया (यह पहले के एक अध्यादेश पर आधारित था)।

इसमें अन्य बातों के अलावा किसी भी व्यक्ति द्वारा किसी भी तरह से ग़ैरक़ानूनी घोषित किये गये संगठन की सहायता करने को या उनकी गतिविधियों में भागीदारी करने को ग़ैरक़ानूनी घोषित कर दिया गया। किसी ग्रामीण व्यक्ति द्वारा माओवादियों की बैठक में भाग लेने या उनके द्वारा बनाए जा रहे तालाब में किसी प्रकार की मदद करने को ग़ैरक़ानूनी घोषित कर दिया। लेकिन यह भी सच है कि पुलिस का आम आदिवासियों से निपटने के लिए किसी असाधारण क़ानून की आवश्यकता नहीं होती है। पुलिस सीआरपीसी (कोड ऑफ़ क्रिमिनल प्रोसिजर) के आर्म्स एक्ट, डकैती या राज्य के ख़िलाफ़ युद्ध छेड़ने जैसे प्रावधानों का आदिवासियों के ख़िलाफ़ धड़ल्ले से उपयोग करती है। कई ऐसे भी मामले हैं जब लोगों के पास सिर्फ़ कुल्हाड़ी और तीर-धनुष होने पर भी उन पर ख़तरनाक मुक़दमे थोप दिये गये।[31] नंदिनी सुंदर बताती हैं कि छत्तीसगढ़ में जेलों के आँकड़े भयंकर हैं, और जेल में बंद आदिवासियों की संख्या में इज़ाफ़ा ही होता रहा है। वर्ष 2011 में छत्तीसगढ़ की जेलों में उनकी क्षमता से 261 प्रतिशत ज़्यादा क़ैदी थे। कांकेर की जेल में उसकी क्षमता से 428 प्रतिशत, दाँतेवाड़ा की ज़ेल में उसकी क्षमता से 371 प्रतिशत और जगदलपुर की जेल में उसकी क्षमता से 260 प्रतिशत ज़्यादा क़ैदी थे।[32]

---

[30] वही : 376.

[31] वही : 22.

[32] वही : 23; नंदिनी सुंदर पूर्व गृहमंत्री शिवराज पाटिल के बयान का हवाला देते हुए बताती हैं कि पुलिस स्टेशनों के बीच नक्सल प्रभावित घोषित होने की होड़ चलती है. लेखिका के मुताबिक़ एक पुलिस स्टेशन के नक्सल प्रभावित घोषित हो जाने से वहाँ पर सुरक्षा संबंधी ख़र्च के लिए केंद्र से अलग से बड़ी राशि आती है, जिसके ख़र्च का हिसाब देने की कोई जवाबदेही नहीं होती है. साथ ही, बड़ी सख्या में विद्रोहियों को मारने से पुलिस वालों को तेज़ी से पदोन्नति मिलती है. देखें, वही : 37.

IV

चुनावी राजनीति, हथियारबंद जनता और राजनीतिक दलों का अंतर्द्वंद्व

सलवा जुडूम और उसके बाद हुई कार्रवाइयों में छत्तीसगढ़ के दो प्रमुख दलों सत्तारूढ़ भाजपा और कांग्रेस के बीच अद्‌भुत सहयोग देखने को मिला। हालाँकि कांग्रेस के भीतर असंतोष की भी कुछ आवाज़ें आयीं, और उसके नेताओं को माओवादियों की हिंसा का शिकार भी होना पड़ा, फिर भी कांग्रेस का मुख्य स्वर सलवा जुडूम और माओवादियों के विरुद्ध सैन्य कार्रवाई के प्रति समर्थन का ही बना रहा। संसदीय वामपंथी दलों में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की इस क्षेत्र में प्रभावशाली उपस्थिति रही है। इस दल ने लगातार सलवा जुडूम का विरोध किया।

सलवा जुडूम को भारतीय जनता पार्टी की छत्तीसगढ़ सरकार ने पूर्ण समर्थन प्रदान किया। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने भी माओवादियों के ख़िलाफ़ चलने वाले इस हिंसक अभियान को अपना समर्थन प्रदान किया। संघ हमेशा से ही वामपंथी समूहों को अपना प्राथमिक शत्रु मानता आया है। इसके द्वारा प्रकाशित एक रपट में माओवादियों और वनवासी कल्याण आश्रम, विद्या भारती जैसे इसके संगठनों तथा गायत्री परिवार जैसे इसके विचारधारात्मक रूप से निकटवर्ती संगठनों के बीच संघर्ष के इतिहास का वर्णन किया गया। साथ ही इसमें गर्व के साथ सलवा जुडूम में संघ की भूमिका की पुष्टि की गयी : 'दाँतेवाड़ा के गुमारगुण्डा गाँव में गायत्री परिवार, संघ परिवार और दिव्य सेवा संघ ने अतुलनीय रूप से भागीदारी की है ... यह आंदोलन (सलवा जुडूम) पंद्रह वर्ष पूर्व शांतिपूर्ण जन-जागरण कार्यक्रम के रूप में आरम्भ हुआ था। इस आंदोलन का मुख्य लक्ष्य ग्राम सुरक्षा समितियों का गठन करना है। यह आंदोलन प्रचार से पूरी तरह दूर है और यही इसकी मुख्य शक्ति है।'[33]

यह सच है कि कांग्रेस ने हमेशा ही सलवा जुडूम और माओवादियों के ख़िलाफ़ चलने वाले सैन्य अभियान का समर्थन किया। किंतु कांग्रेस के भीतर लेकर अलग-अलग आवाज़ें मौजूद थीं। एक ओर दाँतेवाड़ा से कांग्रेस के विधायक और विधानसभा में विपक्ष के नेता सलवा जुडूम के सार्वजनिक मुखिया थे; दूसरी ओर, सलवा जुडूम के आरम्भ होने के समय से ही बहुत से कांग्रेस नेताओं ने इसका विरोध किया। पूर्व मुख्यमंत्री अजीत जोगी[34] सलवा जुडूम के ख़िलाफ़ लिखने वाले पहले लोगों में एक थे। उन्होंने आदिवासियों के बड़े पैमाने पर विस्थापन की तुलना हिटलर द्वारा शुद्ध आर्य नस्ल के निर्माण के लिए लोगों के विशेष क्षेत्र में बसाने के प्रयासों से किया।[35] 2011 के बाद सुरक्षा बलों द्वारा मानवाधिकार उल्लंघन की कई घटनाओं के बाद कांग्रेस नेता भी सर्वदलीय जाँच दल में सम्मिलित हुए और उन्होंने हिंसा का विरोध किया। 2015 में जब महेंद्र कर्मा के बेटे छविंद्र कर्मा ने फिर से सलवा जुडूम को उभारने का प्रयास किया, तो कांग्रेस नेतृत्व ने उनके इस प्रयास को रोक दिया। राष्ट्रीय स्तर पर भी तत्कालीन कांग्रेस सरकार में जनजातीय मामलों के मंत्रालय सँभालने वाले के.सी. देव के साथ-साथ, पी.आर. किंडियाह, जयराम रमेश और मणि शंकर अय्यर जैसे नेताओं ने इसका विरोध किया। लेकिन पार्टी के भीतर प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह और गृह मंत्री पी. चिदम्बरम ने छत्तीसगढ़ सरकार द्वारा चलाये जा रहे नक्सल विरोधी अभियान का पूर्ण समर्थन किया।

नंदिनी सुंदर के अनुसार, एक निजी बातचीत में राहुल गाँधी ने उन्हें यह बताया था कि माओवादी जब तक बातचीत के लिए तैयार नहीं हो जाते हैं, तब तक सैन्य कार्रवाई द्वारा उन्हें कमज़ोर करने की आवश्यकता है।[36] यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि महेंद्र कर्मा सलवा जुडूम में सक्रिय भूमिका निभाने

---

[33] रामभाउ महालगी प्रबोधिनी (2005-6), नंदिनी सुंदर (2016) : 34 पर उद्धृत.

[34] ग़ौरतलब है कि अजीत जोगी ने 23 जून 2016 को कांग्रेस से अलग होकर जनता कांग्रेस छत्तीसगढ़ नाम से अपनी पार्टी गठित की. कांग्रेस छोड़ने की मुख्य वजह उनके पुत्र का पार्टी से निष्कासन और उन्हें पार्टी में उचित महत्त्व न मिलना था.

[35] नंदिनी सुंदर (2016) : 248.

[36] वही : 249.

के कारण माओवादियों के निशाने पर थे। उन पर कई जानलेवा हमला हुआ लेकिन वे अपनी कड़ी सुरक्षा और क़िस्मत के कारण बच गये थे। किंतु 25 अप्रैल, 2013 को माओवादियों ने कांगेर जंगल में जीरम गाँव के नज़दीक हैदराबाद से रायपुर की ओर जाने वाले राष्ट्रीय राजमार्ग के ऊपर एक राजनीतिक रैली से लौटते कांग्रेस नेताओं पर घात लगाकर हमला किया, जिसमें कांग्रेस के 27 नेता और सदस्य मारे गये। यह हमला मुख्य रूप से महेंद्र कर्मा को मारने के लिए किया गया था।[37]

बस्तर क्षेत्र में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (भाकपा) ही एकमात्र ऐसा दल था, जिसने लगातार सलवा जुडूम का विरोध किया। इसके नेता मनीष कुंजाम ने लगातार आदिवासी युवाओं को जुडूम के कुप्रभावों के बारे में सचेत किया। कुंजाम 1990 से 1998 तक अविभाजित मध्य प्रदेश की विधानसभा के सदस्य रहे। 1998 में वे भाकपा की दाँतेवाड़ा इकाई के ज़िला सचिव बने तथा 2006 में भाकपा के आदिवासी मोर्चे अखिल भारतीय आदिवासी महासभा के राष्ट्रीय सचिव बने। 1998 के बाद वे हर विधानसभा चुनाव लड़े किंतु इन्हें कभी जीत नहीं मिली। आंशिक रूप से इसका कारण माओवादियों द्वारा चुनावों का बहिष्कार था, लेकिन यह भी सच है कि टाटा और इसार जैसी कम्पनियाँ मनीष कुंजाम को अपने प्रसार में सबसे बड़े ख़तरे के रूप में देखती रही हैं। हर चुनाव में बड़ी मात्रा में पैसा लगाकर उन्होंने यह सुनिश्चित किया कि कुंजाम चुनाव हार जाएँ।

इसके अलावा, भाकपा इस क्षेत्र को छठी अनुसूची में शामिल करने की माँग करती रही है, जिससे आदिवासियों को ज़्यादा शक्ति मिल जाएगी। बस्तर क्षेत्र में अप्रवासी लोग इस माँग को अपने लिए ख़तरे के रूप में देखते हैं। बहरहाल, सलवा जुडूम के चरम दौर में जुडूम के लोगों ने भाकपा के कई कार्यकर्त्ताओं को जम कर मारा-पीटा। फिर भी, भाकपा के सदस्यों ने न तो इसका समर्थन किया और न ही वे अपना घर छोड़कर भागे। नंदिनी सुंदर बताती हैं कि 'मुझे बहुत से गाँव वालों ने यह बताया कि भाकपा द्वारा आयोजित दो रैलियों ने सलवा जुडूम को रोकने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। एक रैली जून, 2007 में चेरला में आयोजित की गयी थी। नवम्बर, 2007 में जगदलपुर की रैली में लाखों की संख्या में लोग आये थे। इसने लोगों को यह साहस दिया कि वे अपने घरों को वापस लौटें और भागना बंद करें। हालाँकि इसमें कोई संदेह नहीं है कि इन रैलियों में बड़ी संख्या में लोग इसलिए भी आये थे कि माओवादियों ने यह फ़ैसला किया था कि लोगों द्वारा इन रैलियों में भाग लेना अच्छी चीज़ है।'[38]

यहाँ यह ग़ौरतलब है कि माओवादियों ने हमेशा ही संसदीय चुनावी राजनीति का विरोध किया है। सलवा जुडूम के दौर में भी इन्होंने इसी रणनीति को आगे बढ़ाया। लेकिन यह भी सच है कि उनकी रणनीति में अंतर्विरोध रहा है और उन्होंने कई अन्य स्थानों पर राजनीतिक दलों से परोक्ष समर्थन भी प्रदान किया है। 2011 के पश्चिम बंगाल चुनावों में तृणमूल कांग्रेस को इनका परोक्ष समर्थन इसी अंतर्विरोध का एक उदाहरण है। बहरहाल, सलवा जुडूम का चुनावी राजनीति पर भी स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। मसलन, अपने गाँवों को छोड़कर अन्य स्थानों पर भाग गये लोग चुनावी राजनीति में भागीदारी नहीं कर पाए। नंदिनी सुंदर ने 2008 के विधानसभा चुनावों के नतीजों

---

[37] वही : 238. मीडिया में इस घटना की तीखी निंदा की गयी, किंतु माओवादियों ने अपने हमले का औचित्य बताते हुए एक बयान जारी किया. इस बयान में उन्होंने यह कहा कि माओवादियों ने लोकतंत्र के बारे में शासक राजनीतिज्ञों के बात करने की विश्वसनीयता पर सवाल उठाया : '17 मई को बीजापुर ज़िले के एडसामेटा गाँव में पुलिस और अर्द्धसैनिक बलों ने आठ लोगों की हत्या की थी, जिसमें तीन मासूम बच्चे भी शामिल थे, उस समय इनमें से किसी नेता ने 'लोकतंत्र' की बात क्यों नहीं की? ... क्या आपका लोकतंत्र महेंद्र कर्मा जैसे नरसंहारकों और नंद कुमार पटेल जैसे शासक वर्ग के एजेंटों पर ही लागू होता है? क्या बस्तर के ग़रीब आदिवासी, वृद्ध, बच्चे और महिलाएँ आपके 'लोकतंत्र' की हद में नहीं आते?' देखें, *स्टेटमेंट ऑफ़ द दण्डकारण्य स्पेशल ज़ोनल कमिटी*, 26 मई 2013, नंदिनी सुंदर (2016) : 239 पर उद्धृत.

[38] वही : 250.

के परिप्रेक्ष्य में बस्तर में आदिवासियों के मतदान–व्यवहार का अध्ययन करते हुए यह बताया है कि ऐसे कई स्थानों पर माओवादियों द्वारा चुनाव के बहिष्कार या फिर लोगों के गाँव छोड़कर चले जाने के कारण मतदान प्रतिशत काफ़ी कम रहा, जिसके कारण भाजपा को आसान जीत मिल गयी।[39]

राज्य प्रायोजित सलवा जुडूम अभियान के प्रति दो प्रमुख राष्ट्रीय दलों भाजपा और कांग्रेस के रवैये से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि देश में इन्होंने माओवाद के बारे में मौजूदा बहुसंख्यकवादी सोच को न सिर्फ़ बढ़ावा दिया, बल्कि वे इसके मुख्य प्रवाहक के रूप में उभरे। निश्चित रूप से, यह लोकतांत्रिक राजनीति की सीमाओं को दर्शाता है क्योंकि इन दलों ने राज्य के सभी नागरिकों के प्रति समान दायित्व होने की धारणा को खण्डित करने में सक्रिय भूमिका निभाई, और इससे आगे बढ़ते हुए नागरिकों के एक समूह को दूसरे समूह के ख़िलाफ़ हथियारबंद करने का समर्थन किया।

V

नागरिक समाज संगठन, मानवाधिकार आयोग और मीडिया

स्वतंत्रता आंदोलन के समय से कांग्रेस ने औपनिवेशिक शासन के अन्यायों और जनसंहार आदि के ख़िलाफ़ 'तथ्यान्वेषण' की युक्ति का इस्तेमाल करके एक परम्परा डाली। जाँच–पड़ताल की यह राजनीति लोकतांत्रिक नागरिकता और अखिल भारतीय चेतना के विकास का एक महत्त्वपूर्ण माध्यम भी बनी। सलवा जुडूम आरम्भ होने के बाद भी बहुत से नागरिक समाज संगठनों ने इस क्षेत्र का दौरा किया, ज़मीनी हक़ीक़त की जानकारी ली और सलवा जुडूम में मानवाधिकार उल्लंघनों के पहलू को उजागर किया। जुलाई, 2005 में आंध्र प्रदेश के ह्यूमन राइट्स फ़ोरम ने एक छोटी तथ्यान्वेषण रपट प्रकाशित की। भाकपा द्वारा नवम्बर, 2005 में सलवा जुडूम के कारण हो रही हत्याओं को उजागर करते हुए राष्ट्रपति को एक बड़ी खुली चिट्ठी लिखी गयी। पीपुल्स यूनियन फ़ॉर सिविल लिबर्टीज़ (पीयूसीएल) की पहल पर पाँच संगठनों के सदस्यों के एक 14 सदस्यीय दल ने 28 नवम्बर से 1 दिसम्बर 2005 के बीच दाँतेवाड़ा की यात्रा की। इसकी प्रेस विज्ञप्ति और बाद में आयी रपट ने लोगों का ध्यान अपनी ओर खींचा किंतु इस दल पर माओवादियों के प्रति हमदर्दी रखने का आरोप भी लगा।[40] मई, 2006 में स्वतंत्र नागरिक पहल (इंडिपेंडेंट सिटिज़ंस इनीशिएटिव) के बैनर तले नागरिक समाज के छह प्रमुख सदस्यों के दल ने सलवा जुडूम के विभिन्न आयामों को समझने के लिए दाँतेवाड़ा की यात्रा की।[41] वापस आने के बाद इस दल के सदस्यों ने 2006 के आख़िर में मानवाधिकार आयोग, योजना आयोग, प्रधानमंत्री, गृह मंत्री और विभिन्न सांसदों से मुलाक़ात की। इससे सलवा जुडूम के बारे में दिल्ली में थोड़ी–बहुत चर्चा तो हुई, किंतु नेताओं या प्रशासन के बीच कोई ख़ास बेचैनी या परेशानी पैदा नहीं हुई। 2006 से 2008 के बीच बहुत से जाँच दलों की रपटें आयीं जिन्होंने सलवा जुडूम के कारण आदिवासियों पर हो रही दुखद हिंसा की तस्वीर प्रस्तुत की। इन सभी जाँच–दलों ने बहुत ही कम संसाधनों में और सलवा जुडूम तथा सुरक्षा बलों द्वारा पैदा की गयी बाधाओं के बावजूद काम किया।[42]

---

[39] नंदिनी सुंदर (2011).

[40] इस जाँच–दल की विस्तृत रपट दल की दाँतेवाड़ा यात्रा के पाँच महीने बाद आयी थी. देखें, पीयूसीएल और अन्य (2006).

[41] इस दल में वरिष्ठ पत्रकार बी.जी. वर्गीज़, आंध्र प्रदेश के अवकाश प्राप्त प्रशासनिक अधिकारी ई.ए.एस. शर्मा, *प्रभात ख़बर* अख़बार के संपादक हरिवंश, नारीवादी लेखिका और एक्टिविस्ट फ़राह नकवी और नंदिनी सुंदर शामिल थीं. देखें, इंडिपेंडेंट सिटीज़न इनिशिएटिव (2006).

[42] नंदिनी सुंदर के मुताबिक़ सलवा जुडूम के अन्यायों और इसके कारण उत्पन्न हुई मानवीय त्रासदी को चित्रित करने वाली रपटों को दो भागों में बाँटा जा सकता है. लोकतांत्रिक अधिकार की परम्परा से आने वाली रपटों में सलवा जुडूम को लोगों पर थोपे गये युद्ध के रूप में देखा गया, वहीं ह्यूमन राइट्स वॉच जैसे पेशेवर और वित्त–पोषित संगठनों की रपटों में इस बात पर ध्यान दिया गया कि माओवादी हिंसा और राज्य की हिंसा— दोनों की ही एक तरह से आलोचना की जाए. देखें, नंदिनी सुंदर (2016) : 260–61.; इस प्रकार की कुछ रपटों के लिए देखें, एशियन सेंटर फ़ॉर ह्यूमन राइट्स (2006); सीएवीओडब्ल्यू (2006); ह्यूमन राइट्स फोरम (2006).

यहाँ यह भी ग़ौरतलब है कि नागरिक समाज के बहुत से संगठनों ने सलवा जुडूम के पक्ष में माहौल बनाने का प्रयास भी किया। राजनीतिक दलों से जुड़ी चर्चा में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से जुड़े संगठन द्वारा प्रकाशित रपट का उल्लेख किया गया है। नंदिनी सुंदर यह दावा करती हैं कि कांग्रेस के नेतृत्व वाली संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन की सरकार ने संघ के साथ निकट सहयोग से काम करते हुए इसके सदस्यों का 'अकादमिक सलाहकार' के रूप में इस्तेमाल किया।[43] संघ ने फ़ोरम फ़ॉर इंटीग्रेटेड नैशनल सिक्योरिटी, रामभाऊ म्हालगी प्रबोधिनी, विवेकानंद फ़ाउण्डेशन और सूर्या फ़ाउण्डेशन के माध्यम से कई बैठकें आयोजित कीं, तथा मानवाधिकार समूहों द्वारा प्रस्तुत सलवा जुडूम की आलोचना का जवाब दिया। इनके द्वारा आयोजित बैठकों की एक ख़ासियत यह भी होती थी कि इसमें अवकाश-प्राप्त और कार्यरत सैन्य अधिकारी तथा पुलिस और प्रशासन के अधिकारी भी भाग लेते थे। मानवाधिकार कार्यकर्त्ताओं की तरह संघ के संगठन अपनी बैठकों में बयान दिलाने के लिए पीड़ितों को ले आते थे। मसलन, रामभाउ म्हालगी प्रबोधिनी द्वारा फ़रवरी 2007 में दिल्ली में आयोजित बैठक में सलवा जुडूम के नेता मधुकर और कई महिला एसपीओ ने उपस्थिति दर्ज करायी। इसी बैठक में संघ के नेता बाल आप्टे ने सलवा जुडूम के आरम्भ होने के दिन 5 जून को एक पुण्य तिथि घोषित की, क्योंकि इसी तारीख़ को संघ के दूसरे सरसंघचालक गोलवलकर का निधन हुआ था। इसी प्रकार मई, 2010 में फ़ोरम फ़ॉर इंटीग्रेटेड नैशनल सिक्योरिटी द्वारा आयोजित बैठक में संघ नेता इंद्रेश कुमार ने इस बात पर बल दिया कि लोगों को माओवादियों से अलग करने के लिए पूरे देश में सलवा जुडूम करने की आवश्यकता है। यह भी ग़ौरतलब है कि जहाँ मानवाधिकार कार्यकर्त्ता इस बात पर बल देते थे कि विस्थापन के कारण खनन क्षेत्रों में माओवादियों का अस्तित्व है क्योंकि माओवादी कंपनियों को वहाँ नहीं आने देते। किंतु फ़ोरम फ़ॉर इंटीग्रेटेड नैशनल सिक्योरिटी की मई, 2010 की बैठक में छत्तीसगढ़ के मुख्यमंत्री रमन सिंह ने इस बात पर बल दिया कि 'जहाँ भी खनिज है, वहाँ माओवादी हैं, जो यह दिखाता है कि उनके पीछे कोई ऐसी शक्ति है जो भारत की सम्पदा पर क़ब्ज़ा करना चाहती है।'[44]

सलवा जुडूम अभियान के दौरान मानवाधिकार कार्यकर्त्ताओं को भी कई तरह की प्रताड़ना का सामना करना पड़ा। बस्तर क्षेत्र के आदिवासियों के बीच काम करने वाले डॉ. बिनायक सेन को राजद्रोह के आरोप में 14 मई, 2007 को गिरफ़्तार कर लिया गया। बिनायक सेन पीयूसीएल से लम्बे समय से जुड़े हुए थे और वे रायपुर जेल में क़ैद माओवादी नेता नारायण सान्याल का इलाज भी करते थे। लेकिन पुलिस ने माओवादियों और नारायण सान्याल के बीच चिट्ठी के आदान-प्रदान करने के आरोप में इन पर राजद्रोह का मुक़दमा ठोक दिया। वे दो वर्षों तक जेल में रहें। इन्हें रिहा करने के लिए पूरे देश में और विदेशों में भी प्रदर्शन हुए। नंदिनी सुंदर मानती हैं कि सेन की रिहाई को लेकर चलने वाला अभियान एक व्यक्ति पर केंद्रित था, किंतु इसके कारण सलवा जुडूम सार्वजनिक चर्चा का विषय बन गया।[45] इसी तरह, दाँतेवाड़ा से 11 किलोमीटर दूर कवलनार में वनवासी चेतना आश्रम के माध्यम से आदिवासियों के स्वास्थ्य और शिक्षा के लिए काम करने वाले हिमांशु कुमार को भी सलवा जुडूम का विरोध करने के कारण राज्य के कोप का शिकार होना पड़ा। सलवा जुडूम के आरम्भ होने के बाद उनका आश्रम दाँतेवाड़ा आने वाले मानव अधिकार कार्यकर्त्ताओं का निवास स्थान बन गया। हिमांशु कुमार ने अपने आश्रम के माध्यम से सलवा जुडूम से प्रभावित आदिवासियों को राहत पहुँचाने का भी काम किया। इसीलिए वे और उनका आश्रम सरकार की आँखों में खटकने भी लगे।

[43] नंदिनी सुंदर (2016) : 261.
[44] वही : 262.
[45] वही : 269.

मई, 2009 में दाँतेवाड़ा ज़िला प्रशासन ने उनके आश्रम पर बुलडोज़र चला कर उसे गिरा दिया। बाद में, अपनी गिरफ़्तारी की सम्भावना होने पर हिमांशु ने जनवरी, 2010 में दाँतेवाड़ा छोड़ दिया। छत्तीसगढ़ पुलिस ने कई आदिवासी युवाओं और महिलाओं को माओवादियों का समर्थक होने के आरोप में गिरफ़्तार कर लिया। इसमें सोनी सोरी और लिंगाराम कोडोपी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन्हें जेल में अत्यधिक प्रताड़ित किया गया।[46]

यद्यपि भारत में एक मानवाधिकार आयोग जैसी संवैधानिक संस्था है, किंतु यह कहना ग़लत नहीं होगा कि सलवा जुडूम के मामले में यह संस्था अपनी भूमिका का निर्वाह करने में अक्षम रही। क़ायदे से सलवा जुडूम आरम्भ होने और इसके बारे में नागरिक समाज संगठनों की रिपोर्ट आने के बाद ही इसे इसका संज्ञान लेकर सरकार को इसके नकारात्मक पहलुओं और इसके द्वारा की जाने वाली हिंसक गतिविधियों के बारे में निर्देश देना चाहिए था, लेकिन इसने ऐसा नहीं किया। *नंदिनी सुंदर और अन्य बनाम छत्तीसगढ़* मुकदमें में 31 मार्च, 2008 को मुख्य न्यायाधीश सी. जे. बालकृष्णन ने मानवाधिकार आयोग को यह निर्देश दिया कि वह इस मामले की जाँच-पड़ताल करें।[47] बहरहाल, मानवाधिकार आयोग के जाँच दल में सिर्फ़ पुलिस अधिकारी ही सम्मिलित थे। फिर भी, मानवाधिकार कार्यकर्त्ताओं ने यह प्रयास किया कि इस जाँच-दल की सुनवाई निष्पक्ष हो। खुद नंदिनी सुंदर ने विद्यार्थियों और अनुसंधानकर्त्ताओं के एक दल के साथ दाँतेवाड़ा के विविध प्रभावित ज़िलों में यात्रा की और लोगों के बयान दर्ज किये तथा उन्हें मानवाधिकार आयोग के जाँच-दल के सामने अपनी बातें रखने के लिए प्रेरित किया।[48] लेकिन जाँच-दल ने अपनी रपट में यह लिखा की याचिकाकर्त्ताओं के आरोप कही-सुनी बातों पर आधारित हैं, और यह चूँकि बलात्कार पीड़िताओं के बयानों में कहीं-कहीं फ़र्क़ आ रहा था, इसलिए रपट में यह भी कहा गया कि याचिकाकर्त्ता 'गवाहों को सही तरीक़े से प्रशिक्षण देने में नाकाम रहे।'[49] बहरहाल, इस रपट में सलवा जुडूम के कैम्पों और आंध्र प्रदेश में भागे लोगों का पुनर्वास होना चाहिए, लोगों को अपने घरों और अन्य बर्बाद हुए सामानों के लिए मुआवज़ा मिलना चाहिए, सुरक्षा बलों को स्कूलों को ख़ाली करना चाहिए और चाहे जिसने भी अन्याय या ग़ैरक़ानूनी काम किया हो, उसके ख़िलाफ़ प्राथमिकी दर्ज की जानी चाहिए।[50]

सलवा जुडूम के बारे में मीडिया की भूमिका भी प्रश्नों के घेरे में रही है। मुख्यधारा की मीडिया राज्य द्वारा किये जा रहे अत्याचारों पर ख़ामोश रही है या फिर उसने नक्सलवादियों के ख़िलाफ़ राज्य के संघर्ष की बिना किसी आलोचना के ही तारीफ़ की है। 2005 से 2007 तक मीडिया ने इस बारे में कोई ख़बर प्रकाशित नहीं की। 2008 और 2011 के बीच मानव अधिकारों के उल्लंघन की थोड़ी-बहुत चर्चा हुई।[51] इसके बाद, वर्ष 2015-16 में फिर से ख़ामोशी छा गयी। इस समय तक निगरानीवाद

---

[46] जेल से रिहा होने के बाद सोनी सोरी आम आदमी पार्टी में शामिल हो गयीं और उन्होंने 2014 का लोकसभा चुनाव भी लड़ा, लेकिन वे हार गयीं.

[47] वही : 322.; नंदिनी सुंदर ने अपनी पुस्तक में विस्तार से कई केसों का उदाहरण देते हुए यह बताया है कि मानवाधिकार आयोग के जाँच-दल ने कैसे महत्त्वपूर्ण तथ्यों की उपेक्षा की. देखें, वही : 327-30.

[48] मैंने भी एक अनुसंधान-छात्र के रूप में इस दल में हिस्सेदारी की थी. देखें, *कैम्पेन फ़ॉर पीस ऐंड जस्टिस इन छत्तीसगढ़* (2011).

[49] देखें, नंदिनी सुंदर (2016) : 326.

[50] वही : 330.

[51] 6 जून से 10 जून, 2008 तक कैम्पेन फ़ॉर पीस ऐड जस्टिस इन छत्तीसगढ़ के एक दल के सदस्य के रूप में मैंने भी सलवा जुडूम की हिंसा से प्रभावित विभिन्न गाँवों का दौरा किया था. इस यात्रा का उद्देश्य मानवाधिकार आयोग की टीम को विभिन्न गाँवों में हुई हिंसा के बारे में आदिवासियों के बयान उपलब्ध कराना था. बाद में, 11 जून को जब हमने रायपुर में सलवा जुडूम द्वारा की गयी हिंसा के बारे में बताने के लिए एक संवाददता सम्मेलन का आयोजन किया, जिसमें बड़ी संख्या में पत्रकार सम्मिलित हुए. लेकिन आश्चर्य की बात यह थी कि कोई भी पत्रकार सलवा जुडूम द्वारा की गयी हिंसा को ग़लत मानने के लिए तैयार नहीं था. संवाददाता सम्मेलन में हमारे दल द्वारा जारी की गयी प्रेस विज्ञप्ति के लिए देखें, *कैम्पेन फ़ॉर पीस ऐंड जस्टिस इन छत्तीसगढ़* (2011).

फिर से आरम्भ हो चुका था तथा मानव अधिकार कार्यकर्त्ताओं, वकीलों, पत्रकारों और अन्य लोगों पर लगातार हमले हो रहे थे। आम तौर पर, मीडिया में मध्य वर्ग के बाहरी कार्यकर्त्ताओं की परेशानियों पर ध्यान दिया गया, किंतु सलवा जुडूम के कारण आम आदिवासियों के जीवन में आयी त्रासदी को पर्याप्त स्थान नहीं दिया गया। इसके अलावा, सरकार ने यह रणनीति भी अपनाई कि उसे जिस भी व्यक्ति पर यह संदेह होता कि वह सलवा जुडूम या राज्य हिंसा के बारे में कुछ लिखेगा, तो उस व्यक्ति को या तो बस्तर क्षेत्र में प्रवेश करने से रोका जाने लगा, और यदि कोई पहले से ही वहाँ रह रहा था तो उसे वहाँ से निकालने का प्रयास किया जाने लगा।[52]

इसमें कोई संदेह नहीं है कि सलवा जुडूम और इस तरह के अन्य अभियानों के दौरान मानवाधिकार कार्यकर्त्ताओं, मानवाधिकार आयोग जैसी संस्थाओं और मीडिया की भूमिका लोकतंत्र की शक्ति और सम्भावना के बारे में एक ओर शंकित करती है, तो दूसरी ओर आश्वस्त भी करती है। यद्यपि कई संगठन हैं जिन्होंने सलवा जुडूम का खुल कर समर्थन किया, और मानवाधिकार आयोग और मीडिया की भूमिका भी काफ़ी असंतोषजनक रही, किंतु कई मानवाधिकार संगठनों और मानवाधिकार कार्यकर्त्ताओं ने काफ़ी प्रशंसनीय भूमिका निभायी और उन्होंने मानवाधिकार आयोग जैसी संस्थाओं को कुछ हद सक्रिय बनाने में भी काफ़ी सफ़लता हासिल की।

VI

सर्वोच्च न्यायालय और सलवा जुडूम की असंवैधानिकता

वर्ष 2007 में सर्वोच्च न्यायालय में सलवा जुडूम के ख़िलाफ़ दो केस दायर किये गये। एक केस नंदिनी सुंदर, रामचंद्र गुहा और ई.ए.एस. शर्मा ने दायर किया। दूसरा केस कर्तम जोगा, मनीष कुंजाम और दुधी जोगा द्वारा दायर किया गया। ये तीनों भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य हैं। ये तीनों बस्तर में रहते हैं और इन्होंने खुद सलवा जुडूम की हिंसा का सामना किया था।

छत्तीसगढ़ सरकार हमेशा ही सलवा जुडूम को एक स्वत:स्फूर्त शांतिपूर्ण जन-आंदोलन बताती रही। लेकिन याचिकाकर्त्ता द्वारा प्रस्तुत सबूतों के कारण वे भी अदालत में यह मानने के लिए मजबूर हो गये कि यह एक शांतिपूर्ण आंदोलन नहीं है, और इसने आदिवासियों के घरों को भी जलाया है। 2008 से अदालत ने राज्य सरकार को लगातार यह कहा कि वह प्राथमिकी दर्ज करने के बारे में की गयी कार्रवाई के बारे में बताए। दरअसल, इस केस के आरम्भ होने के समय से ही अदालत सलवा जुडूम की असंवैधानिकता को रेखांकित करती रही। नंदिनी सुंदर के अनुसार, '2007 में जब पहली बार सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के सामने इस केस की सुनवाई हुई, उसी समय से अदालत ने हमेशा ही इस बात पर ज़ोर दिया कि राज्य नागरिकों को हथियारबंद नहीं कर सकता है। अदालत के दस्तावेज़ों से यह बात पूरी तरह स्पष्ट है कि सिर्फ़ वर्तमान आदेश देने वाले न्यायमूर्ति रेड्डी और निज्जर का ही यह मत नहीं रहा है, बल्कि इस मामले की पहले सुनवाई करने वाले न्यायमूर्ति बालकृष्णन, न्यायमूर्ति कपाड़िया और न्यायमूर्ति आफ़ताब आलम का भी यही मानना था।'[53]

---

[52] 2010 में जब नंदिनी सुंदर और उज्ज्वल कुमार सिंह दाँतेवाड़ा गये, तो हमेशा ही उनके साथ कुछ सिपाही लगे रहे. उन्हें किसी भी होटल में रुकने के लिए जगह नहीं मिली. देखें, नंदिनी सुंदर और उज्ज्वल कुमार सिंह (2010); इसी तरह, 2013 में शालिनी गेरा, ईशा खण्डेलवाल और पारिजात भारद्वाज ने 2013 में जगदलपुर लीगल ऐड ग्रुप की शुरुआत की. इसके माध्यम से वे उन आदिवासी कैदियों की मदद करना चाहती थीं जिन्हें कोई क़ानूनी सहायता नहीं मिलती थी. किंतु पुलिस द्वारा समर्थित निगरानी समूह सामाजिक एकता मंच और महिला एकता मंच ने इनके ख़िलाफ़ प्रदर्शन किया, इनके पुतले जलाए और इन्हें माओवादियों का समर्थक घोषित किया. पुलिस ने इनके मकान मालिकों को भी धमकाया. आख़िरकार, मजबूर होकर इन्हें जगदलपुर छोड़ना पड़ा. इसी तरह, एक अन्य अकादमिक और सामाजिक कार्यकर्त्ता बेला भाटिया को लगातार निगरानी समूहों की धमकियों का सामना करना पड़ता है. किंतु अभी तक वे इन धमकियों का सामना करते हुए बस्तर में ही जमी हुई हैं. देखें, नंदिनी सुंदर (2016) : 72-73.

[53] नंदिनी सुंदर (2011) : 4.

मुक़दमा दायर करने के चार वर्षों के बाद 5 जुलाई, 2011 को सर्वोच्च न्यायालय ने नंदिनी सुंदर और अन्य बनाम छत्तीसगढ़ राज्य मुक़दमें में अपना ऐतिहासिक निर्णय दिया। अदालत ने अपने निर्णय में यह कहा कि सरकार सलवा जुडूम या इस तरह के किसी भी आंदोलन को समर्थन देना बंद करे, एसपीओ से हथियार वापस ले, विद्रोह के दमन में उनका उपयोग बंद करे तथा दोषी लोगों के ख़िलाफ़ प्राथमिकी या एफ़आईआर दर्ज करे और उन्हें सज़ा दे।[54] अदालत ने माओवाद की समस्या का विश्लेषण करते हुए राज्य द्वारा लागू की गयी नीतियों की और सीमाओं को भी रेखांकित किया। निर्णय में यह कहा गया कि '... दरअसल, मूल समस्या की जड़ राज्य द्वारा अपनाई गयी सामाजिक-आर्थिक नीतियों में निहित है। राज्य ने इन नीतियों को एक ऐसे समाज में लागू किया है जो पहले से ही अंतहीन और भयावह ग़ैर-बराबरी से पीड़ित हैं। इसलिए, माओवादियों/नक्सलवादियों के ख़िलाफ़ लड़ाई लोगों के दिल और दिमाग़ पर नैतिक, संवैधानिक और क़ानूनी प्राधिकार स्थापित करने की लड़ाई है। हमारा संविधान राज्य के लिए एक दायरा तय करता है। राज्य को इसी दायरे के भीतर काम करना है। यानी इसके भीतर उसे अपने प्राधिकार का प्रयोग करना है, इसे आगे बढ़ाना है और इसे ज़्यादा गहराई देनी है। यदि राज्य इस दायरे से बाहर जाकर क़दम उठाता है, तो उसका यह कार्य ग़ैरक़ानूनी होगा ...।'[55]

अदालत ने स्पष्ट रूप से यह कहा कि आदिवासी युवकों को एसपीओ के रूप में नियुक्त करना और उन्हें विद्रोह के दमन के काम में लगाना संविधान के अनुच्छेद 14 और 21 का उल्लंघन है।[56] स्पष्टत: अदालत द्वारा एसपीओ की व्यवस्था की तीखी आलोचना और इसे पर आदेश एक प्रगतिशील निर्णय का उदाहरण था, और इसने सलवा जुडूम के बुनियादी आधार को ख़ारिज कर दिया।[57]

हालाँकि इसका यह अर्थ क़तई नहीं है कि सलवा जुडूम के नाम पर चलने वाली सुरक्षा बलों की चलनी कार्रवाई और बग़ावत-विरोधी कार्रवाई पूरी तरह बंद हो गयी। अधिकांश एसपीओ को सहायक बल (ऑक्ज़िलरी फ़ोर्स) के रूप में शामिल कर लिया गया[58] तथा बग़ावत-विरोधी अभियान चलता रहा, जिसके कारण तथाकथित रूप से माओवादियों के प्रभाव क्षेत्र या उनके निकट बसे गाँवों के लोगों की स्थिति 'संदिग्ध' बनी रही, और किसी प्रकार की माओवादी कार्रवाई होने पर या उसका अंदेशा होने पर इन गाँवों के लोगों के धड़-पकड़ या उत्पीड़न की प्रक्रिया पहले की तरह ही चलती रही।

---

[54] सलवा जुडूम : संविधान के साथ खिलवाड़ (2011) : 74-76.

[55] वही : 70-71.

[56] वही : 64-65.

[57] निश्चित रूप से, सलवा जुडूम मामले में सर्वोच्च न्यायालय का फ़ैसला आदेश प्रगतिशील था. किंतु इसकी कई आलोचनाएँ भी हुईं. मसलन, बेला भाटिया ने इसकी आलोचना करते हुए यह कहा कि इसमें ज़्यादा व्यवस्थित और बृहद् पैमाने पर चलाए जा रहे ऑपरेशन ग्रीन हंट का कोई उल्लेख नहीं किया गया. उनके अनुसार, सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय में एसपीओ पर ज़्यादा ध्यान दिया गया और यह युद्ध नहीं बल्कि युद्ध की कार्य-प्रणाली पर एक अभियोग-पत्र जैसा है. देखें, बेला भाटिया (2011). यह भी सच है कि बाद में कुछ अदालत ने एसपीओ संबंधी अपने आदेश को भी सीमित कर दिया. सर्वोच्च न्यायालय के इस फ़ैसले के ख़िलाफ़ केंद्र सरकार ने सर्वोच्च न्यायालय में पुनर्विचार याचिका दायर की. इसमें यह कहा गया कि यदि एसपीओ की व्यवस्था पूरी तरह प्रतिबंधित कर दी जाएगी तो उत्तर-पूर्वी राज्यों, जम्मू और कश्मीर, आंध्र प्रदेश, ओडीशा, बिहार और दूसरे अन्य राज्यों में क़ानून व्यवस्था को सँभालना और चरमपंथियों से निबटना मुश्किल हो जाएगा. इस याचिका पर सुनवाई करते हुए 18 नवम्बर, 2011 को न्यायाधीश अल्तमश कबीर और एस.एस. निज्जर की पीठ ने 5 जुलाई, 2011 के सर्वोच्च न्यायालय के फैसले को छत्तीसगढ़ राज्य तक सीमित कर दिया. देखें, जे. वेंकटेशन (2011). बहरहाल, इन सभी आलोचनाओं और सीमाओं को स्वीकार करने के बाद भी इंद्रजीत कुमार झा ने इस बात पर बल दिया कि सलवा जुडूम मामले में न्यायालय के निर्णय ने विकास की उस नीति को प्रश्नांकित किया 'जिसने समाज में अभाव और वंचना को जन्म दिया है एवं अमीरी और ग़रीबी के बीच की खाई को कहीं अधिक चौड़ा कर दिया है. विकास की इसी नीति ने सशस्त्र संघर्ष को जन्म दिया है और एक वीभत्सकारी स्थिति उत्पन्न कर दी है. इसीलिए इस पूरे घटनाक्रम के लिए यदि कोई मौलिक रूप से ज़िम्मेदार है तो वह यह विकास की नीति है...', इंद्रजीत कुमार झा (2013) : 198-99.

[58] जे. वेंकटेशन (2012); नंदिनी सुंदर और अन्य ने सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय की अवमानना के ख़िलाफ़ मार्च 2012 में सर्वोच्च न्यायालय में केस दायर किया, किंतु 2016 में इस किताब के प्रेस में जाने तक इस मामले में कोई सुनवाई नहीं हुई थी. देखें, नंदिनी सुंदर (2016) : 381.

VII

एक व्यापक समाजशास्त्रीय अध्ययन में उपेक्षित पहलू

यद्यपि यह पुस्तक सलवा जुडूम और उससे जुड़े विभिन्न कर्त्ताओं, समूहों और संस्थाओं की भूमिका का विशद वर्णन प्रस्तुत करती है। लेकिन इसमें कई पहलुओं का ज़्यादा गहराई से परीक्षण नहीं किया गया है और कुछ अन्य पहलुओं की बिल्कुल ही आलोचना कर दी गयी है।

पहला, संसदीय राजनीति के प्रभावों के बारे में ज़्यादा गहन विश्लेषण की गुंजाइश है। लेखिका इसका उल्लेख करती हैं, किंतु इस बारे में माओवादियों के सैद्धांतिक वाद-विवाद को प्रस्तुत नहीं करतीं। इस पुस्तक में संसदीय राजनीति के संदर्भ में नंदिनी सुंदर लेनिन के लम्बे निबंध *लेफ़्ट विंग कम्युनिजम : एन इनफ़ेंटाइल डिसऑर्डर* से उद्धृत करते हुए चुनावी राजनीति के बहिष्करण की माओवादी रणनीति की आलोचना करती हैं। लेनिन ने कहा था कि 'जब तक आप बुर्ज़्वा संसद और हर तरह की प्रतिक्रियावादी संस्था से मुक्त नहीं हो जाते, तब तक आपको उसके दायरे में काम करना होगा।'[59] एक अन्य स्थान पर नंदिनी भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (माओवादी) के प्रवक्ता अभय द्वारा 2014 में मीडिया को दिये गये बयान को उद्धृत करती हैं। इस बयान में कहा गया था कि 'अखिल भारतीय स्तर और विभिन्न राज्यों में बदलते राजनीतिक संगठन के अनुसार ठोस परिस्थितियों तथा हमारी शक्ति और लोगों की तैयारी के आधार पर हमारी रणनीति अलग-अलग हो सकती है।'[60] किंतु यह किताब प्राथमिक या द्वितीयक स्रोतों के आधार पर माओवादियों के भीतर संसदीय राजनीति को लेकर चलने वाली बहस के बारे में विस्तार से नहीं बताती है। मसलन, यह पूछा जा सकता है कि माओवादी पार्टी के भीतर चुनाव बहिष्कार को लेकर क्या कोई मत-भिन्नता रही है, क्योंकि छत्तीसगढ़ में ऐसा करने का सीधा नतीजा भाजपा की जीत के रूप में सामने आया? क्या माओवादी पार्टी की सैद्धांतिक रणनीति में कांग्रेस, भाजपा और भाकपा— तीनों की स्थिति एक जैसी मानी गयी है, और यदि ऐसा है तो क्या इस मसले पर पार्टी के भीतर कोई वाद-विवाद रहा है?

दूसरा, पुस्तक विकास के बारे में आदिवासियों की समझ या उनके बीच के वाद-विवाद के बारे में विस्तार से कुछ नहीं बताती है। मसलन, क्या आदिवासी नौजवानों का एक ऐसा तबक़ा है जो खनिज संसाधनों के दोहन का पक्ष लेता है क्योंकि उसे यह लगता है कि इससे उसे रोज़गार और आधुनिक जीवन की अन्य सुविधाएँ प्राप्त होंगी। कई विस्तृत साक्षात्कारों के माध्यम से ऐसे युवाओं के विचारों और आशंकाओं को सामने लाया जा सकता था।

तीसरा, पुस्तक पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि लेखिका मानती हैं कि सलवा जुडूम में सम्मिलित लोगों के पास किसी सक्रिय राजनीतिक एजेंसी का अभाव है। यद्यपि पुस्तक के आरम्भ में उन्होंने इसमें दक्षिणपंथी राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की भूमिका को रेखांकित किया है। किंतु वास्तविक रूप में सलवा जुडूम से जुड़े आदिवासी और ग़ैर-आदिवासी युवक कुछ हज़ार रुपये के लिए हिंसा करने वाले समूह के रूप में सामने आते हैं। निश्चित रूप से, यह वर्णन यथार्थ के निकट है, किंतु बेहतर होता कि लेखिका एसपीओ के रूप काम कर रहे युवाओं की राजनीतिक समझ को सामने लाने का प्रयास करतीं।

चौथा, नंदिनी सुंदर दावा करती हैं कि '2005 में सलवा जुडूम शुरू होने से पहले आदिवासी युवाओं के पास कोई विकल्प नहीं था। इनमें से बहुत से लोग माओवादियों की ओर आकर्षित हुए, क्योंकि उनके बचपन के समय से ही वे उनकी उपस्थिति से परिचित थे, और उनके इस तर्क ने आदिवासी युवाओं पर गहरा प्रभाव डाला कि लोगों को अपनी भूमि बचाने के लिए उनका समर्थन करना चाहिए। आदिवासी युवाओं के गाँवों में सलवा जुडूम का क्रूर हमला होने पर युवाओं में माओवाद

---

[59] लेनिन (1940) : 41-42, वही : 240 पर उद्धृत.

[60] वही : 242.

के प्रति आकर्षण बढ़ा, और वे पूरी तरह से आत्म-रक्षा के लिए माओवादियों के साथ जुड़े। लेकिन बहुत से लोगों विशेष रूप से अनुसूचित जातियों और अन्य पिछड़े वर्गों के युवाओं ने माओवादियों को प्रमुख रूप से आदिवासी पार्टी के रूप में देखा और वे एसपीओ के सरकार नौकरी की सम्भावना की ओर आकर्षित हुए'।[61] किंतु इस तरह का सामान्य दावा करते हुए नंदिनी कोई व्यवस्थित अनुभवसिद्ध प्रमाण प्रस्तुत नहीं करती हैं। मसलन, इस बारे में कोई व्यवस्थित आँकड़ा नहीं है कि सरकार ने जिन लोगों को एसपीओ के रूप में सम्मिलित किया, उनमें से कितने लोग अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, अन्य पिछड़ा वर्ग या अनारक्षित वर्ग से थे।

पाँचवाँ, पुस्तक का शीर्षक 'द बर्निंग फ़ॉरेस्ट' (जंगल में आग) है, किंतु इसमें जंगल के पेड़-पौधों और जंगली जानवरों पर सलवा जुडूम के रूप में छेड़े गये 'युद्ध' के प्रभाव का विश्लेषण नहीं किया गया है। इस लिहाज़ से यह कहा जा सकता है कि लेखिका की चिंताएँ पूरी तरह मनुष्य की दुनिया तक सीमित हैं।

हालाँकि इससे इंकार नहीं किया जा सकता है कि यह पुस्तक भविष्य के लिए कई अनुसंधानों का दरवाज़ा खोलती है। सलवा जुडूम जैसे हिंसक अभियान में महिलाओं की दुर्दशा और उनकी हिस्सेदारी, लोकतांत्रिक संस्थाओं की भूमिका का मूल्यांकन, एक अवधारणा के रूप में उदारतावादी लोकतंत्र के भारतीय अनुभवों को सलवा जुडूम जैसे अभियानों के परिप्रेक्ष्य परीक्षण आदि ऐसे कई विषय हैं जिनके बारे में इस पुस्तक में वर्णन किया गया है, किंतु इनमें से प्रत्येक विषय पर अलग से और ज़्यादा गहन अनुसंधान करने की आवश्यकता है।

VIII

निष्कर्ष

2005 और 2007 के बीच अपने गाँवों से बलात् कैम्पों ले जाए गये या आंध्र प्रदेश की ओर भागे अधिकतर आदिवासी ग्रामीण अपने गाँव में वापस लौट आये हैं। लेकिन ऐसे बहुत से लोग हैं जो अपने गाँव में वापस नहीं लौटे। वे या तो आंध्र प्रदेश में ही मज़दूरी करने लगे या फिर बहुत से लोग सलवा जुडूम के कैम्पों में ही बस गये। जो लोग आंध्र प्रदेश या तेलंगाना में ही रह गये, अब उनके बच्चे अपने पुरखों की सांस्कृतिक विरासत से पूरी तरह कट गये हैं। लेकिन जो लोग वापस अपने गाँव आये, उनके लिए मुश्किलें पहले की तरह ही बनी हुई हैं। अकसर सुरक्षा बलों की चलनी कार्रवाई होती है। गाँव में कम से कम एक मौसम में या उससे भी ज़्यादा समय तक उनके पास काम नहीं होता है। पुलिस के दबाव में कई आदिवासी मुख़बिर बन जाते हैं, जिनके कारण कई बार गाँव में माओवादियों द्वारा ऐसे मुख़बिरों को सज़ा दी जाती है। कुल-मिला कर सलवा जुडूम ने इनकी जिंदगी हमेशा के लिए बदल दी है। समय बीतने के साथ माओवादी विद्रोह के ख़िलाफ़ भारतीय राज्य द्वारा आरम्भ किये गये संघर्ष का नाम बदला, किंतु यह अन्य नामों साथ पूरी गहनता से क़ायम रहा। आरम्भ में यह सलवा जुडूम था, फिर ऑपरेशन ग्रीन हंट आया। इसके बाद स्थानीय स्तर पर ऑपरेशन माड, किलाम और पोडकु या मिशन 2016 जैसे नामों से यह अभियान चलता रहा। सितम्बर, 2015 से 'जन-जागरण अभियान' फिर से आरम्भ हुआ और बीजापुर और सुकमा क्षेत्रों में झूठे एनकाउंटरों और हिंसक गतिविधियों में वृद्धि हुई। माओवादी भी हिंसक तरीक़ों का उपयोग करके तथा सीआरपीएफ़ के जवानों पर हमला करके या उनकी हत्या करके अपनी उपस्थिति दर्ज कराते रहते हैं। इस क्षेत्र में सुरक्षा बलों ने कई स्थानों पर पाँच से आठ किलोमीटर के दायरे में अपनी

[61] वही : 41-42.

छावनी बसाई है। इसके लिए वनों को काटा गया है तथा जंगल के बीचों-बीच छह लेन वाली सड़क का निर्माण भी कर दिया गया है। लेखिका यह मानती हैं कि यह भविष्य की योजना है जब यहाँ से अभ्रक और अन्य खनिज पदार्थ सुचारु रूप से बाहर ले जाए जाएँगे।[62]

सलवा जुडूम अभियान के साथ सबसे बड़ी विडम्बना यह जुड़ी हुई है कि राज्य ने अपने पास बड़ी सशस्त्र पुलिस और अर्द्धसैनिक बलों के होने के बावजूद निगरानीवाद (विजलांतिज़म) को बढ़ावा दिया। इसने भारत के उदारतावादी लोकतंत्र के विद्रूप चेहरे को प्रस्तुत किया। दो प्रमुख राष्ट्रीय दलों की सहमति से नागरिकों के एक समूह को हथियार देकर उसे नागरिकों के दूसरे समूह के ख़िलाफ़ सक्रिय किया गया, राज्य की मानवाधिकार आयोग जैसी संस्थाएँ बेबस नज़र आयीं और नागरिक समाज तथा समाचार माध्यमों का एक बड़ा हिस्सा इस अलोकतांत्रिक और अमानवीय अभियान का समर्थक बन गया। सर्वोच्च न्यायालय ने सलवा जुडूम को निरस्त किया किंतु उसका फ़ैसला पूरी तरह लागू नहीं हुआ। असल में, 2014 में नरेन्द्र मोदी के नेतृत्व वाली सरकार के सत्ता में आने के बाद अल्पसंख्यकों और उदारतावादियों के ख़िलाफ़ निगरानीवाद की घटनाएँ बढ़ी हैं, जो सलवा जुडूम के देश की मुख्यधारा बन जाने का प्रतीक हैं। अब दक्षिणपंथी ग़ैर-राज्य कर्त्ताओं की हिंसा के ख़िलाफ़ होने वाले हर प्रदर्शन के ख़िलाफ़ पुलिस के समर्थन से भी एक प्रदर्शन होने लगा है। इस राष्ट्रीय वातावरण का लाभ उठाते हुए बस्तर में पुलिस ने शहरी सहायकों की मदद से सामाजिक एकता मंच, नक्सल पीड़ित संघर्ष समिति, बस्तर संघर्ष समिति जैसे समूहों का गठन कर लिया है, जिनका काम माओवाद विरोधी रैलियों का आयोजन करना, मानवाधिकार कार्यकर्त्ताओं को धमकाना और सार्वजनिक रूप से पुलिस के प्रति निष्ठा को अभिव्यक्त करना है।

संदर्भ

अजय गुडावर्दी (2012), *माओइज़म, डेमॉक्रैसी ऐंड ग्लोबलाइज़ेशन : क्रॉस करेंट्स इन इण्डियन पॉलिटिक्स,* सेज, नयी दिल्ली.

अभय कुमार दुबे (1989), *क्रांति का आत्मसंघर्ष : नक्सलवादी आंदोलन के बदलते चेहरे का अध्ययन,* विनय प्रकाशन, नयी दिल्ली.

अनुराधा गाँधी (2011), *स्क्रिप्टिंग द चेंज : सेलेक्टेड राइटिंग्ज़ ऑफ़ अनुराधा गाँधी,* दानिश बुक्स, दिल्ली.

अनुराधा मित्र चिनॉय और कमल मित्र चिनॉय (2010), *माओइस्ट्स ऐंड अदर आर्म्स कांफ़्लिक्ट्स,* पेंगुइन, नयी दिल्ली.

अरुंधति रॉय (2013), *ब्रोकेन रिपब्लिक,* पेंगुइन बुक्स, दिल्ली.

अल्पा शाह और ध्रुव जैन (2017), *नक्सलबारी ऐट इट्स गोल्डेन जुबली : फ़िफ़्टी रिसेंट बुक्स ऑन माओइस्ट मूवमेंट इन इण्डिया,* वेब पता : http://eprints.lse.ac.uk/83715/, देखने की तारीख़ : 18 अप्रैल, 2018.

आज़ाद (2010), *माओइस्ट्स इन इण्डिया : राइटिंग्ज़ ऐंड इंटरव्यूज़,* फ्रेंड्स ऑफ़ आज़ाद, हैदराबाद.

इंद्रजीत कुमार झा (2013), 'सलवा जुडूम और न्याय का लोकतंत्रीकरण : नीति-निर्णय, उदारीकरण और सुप्रीम कोर्ट', *प्रतिमान समय समाज संस्कृति,* खण्ड 1, अंक 1.

इंडिपेंडेंट सिटीज़न एनिशिएटिव (2006), *वॉर इन द हार्ट ऑफ़ इण्डिया,* जुलाई.

एशियन सेंटर फ़ॉर ह्यूमन राइट्स (2006), *द आदिवासीज़ ऑफ़ छत्तीसगढ़ : विक्टिम्स ऑफ़ द नक्सलाइट मूवमेंट ऐंड सलवा जुडूम कैम्पेन,* फ़रवरी.

कमल नयन चौबे (2016), 'किलिंग्ज़ इन काजीरंगा, दाँतेवाड़ा, हज़ारीबाग : 'नैशनल इंटरेस्ट', 'इंटरनल सिक्योरिटी'

[62] वही : 25.

ऐंड 'डिवेलपमेंट', काफ़िला, 10 अक्टूबर, वेब पता : https://kafila.online/2016/10/10/kaziranga-dantewada-and-hazaribagh-national-interest-internal-security-and-development-kamal-nayan-choubey/, देखने की तारीख़ : 12 मई, 2018.
कैम्पेन फ़ॉर पीस ऐंड जस्टिस इन छत्तीसगढ़ (2011), *दाँतेवाड़ा विज़िट रिलीज़ बाई टीम ऑफ़ रिसर्च स्कॉलर्स ऐंड स्टुडेंट्स,* 11 जून, वेब पता : https://cpjc.wordpress.com/category/salwa-judum/, देखने की तारीख़ : 8 मई, 2018.
ग्लैडसन डुंगडुंग (2013), *व्हूज़ कंट्री इज़ इट एनीवे ? : अनडोल्ड स्टोरीज़ ऑफ़ द इण्डिजीनियस पीपुल्स इन इण्डिया,* आदिवाणी, कोलकात्ता.
गौतम नवलखा (2012), *डेज़ ऐंड नाइट्स इन द हार्टलैण्ड ऑफ़ रिबेलियन,* पेंगुइन बुक्स, दिल्ली.
--------- (2014), *वॉर ऐंड पॉलिटिक्स,* सेतु प्रकाशनी, कोलकाता.
जॉन मिर्डाल (2012), *रेड स्टार ओवर इण्डिया : ऐज़ द रेचेड ऑफ़ द अर्थ आर राइज़िंग,* इम्प्रेशंस, रिफ़्लेक्शंस ऐंड प्रिलिमिनरी इनफेरेंसेज़, सेतु प्रकाशनी, कोलकात्ता.
जे. वेंकटेशन (2011), 'एसपीओ बैन विल अप्लाय ऑनली टू छत्तीसगढ़ : कोर्ट', द *हिंदू,* नयी दिल्ली, 18 नवम्बर.
-------- (2012), 'छत्तीसगढ़ निगेटिड कोर्ट ऑर्डर ऑन सलवा जुडूम : कंटेम्प्ट प्ली', द *हिंदू,* नयी दिल्ली, 25 नवम्बर.
झुम्पा लाहिड़ी (2013), द *लॉलैण्ड,* ब्लूम्सबरी, लंदन.
नील मुखर्जी (2012), द *लाइव्स ऑफ़ अदर्स,* चैटो ऐंड विंडस, लंदन.
पी.सी. जोशी (2013), *नक्सलिज़्म ऐट अ ग्लांस,* कलपाज़ पब्लिकेशंस, दिल्ली.
-------- (2014), *नक्सलिज़्म : हाउ टू कोप विद,* कलपाज़ पब्लिकेशंस, दिल्ली.
पीयूसीएल और अन्य (2006), *व्हेयर स्टेट मेक्स वॉर ऑन इट्स ऑन पीपुल,* अप्रैल.
बिद्युत चक्रवर्ती और आर.के. कुजूर (2010), *माओइज़म इन इण्डिया : रिइनकारनेशन ऑफ़ अल्ट्रा-लेफ़्ट विंग एक्सट्रीमिज़म इन द ट्वेंटी फ़र्स्ट सेंचुरी,* रॉटलेज, अबिंगडन.
बेला भाटिया (2011), 'जजिंग द जजमेंट', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 46, अंक 30.
मनोरंजन मोहंती (2015), *रेड ऐंड ग्रीन : फ़ाइव डिकेड्स ऑफ़ इण्डियन माओइस्ट मूवमेंट्स,* सेतु प्रकाशनी, कोलकाता.
मल्लारिका सिन्हा रॉय (2011), *जेण्डर ऐंड रैडिकल पॉलिटिक्स इन इण्डिया : मैजिक मोमेंट्स ऑफ़ नक्सलबारी (1967-1975),* रॉटलेज, बिंगडन
नंदिनी सुंदर (1997), *सबॉल्टर्स ऐंड सॉवरंस : ऐन एंथ्रोपॉलिजकल हिस्ट्री ऑफ़ बस्तर, 1854-1996,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.
--------(2006), 'बस्तर, माओइज़म ऐंड सलवा जुडूम', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 41, अंक 29.
--------(2008), 'नॉन स्टेट एक्टेर्स ऐंड द रूल ऑफ़ लॉ', द *हिंदू,* दिसम्बर 29.
------ -(2011), 'प्रस्तावना', *सलवा जुडूम : संविधान के साथ खिलवाड़, नंदिनी सुंदर एवं अन्य बनाम छत्तीसगढ़ राज्य के वाद में सर्वोच्च न्यायालय का फ़ैसला,* अनुवाद : कमल नयन चौबे, जुलाई.
------- (2016), द *बर्निंग फ़ॉरेस्ट : इण्डियाज़ वॉर इन बस्तर,* नयी दिल्ली, जगरनॉट बुक्स.
नंदिनी सुंदर और उज्ज्वल कुमार सिंह (2010), 'पुलिस स्टेट्स ऐंड ऐकेडेमिक फ्रीडम', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 45, अंक 4.
नीरा चंडोख (2015), *डेमॉक्रैसी ऐंड रिवोल्यूशनरी पॉलिटिक्स,* ब्लूम्सबरी एकेडेमिक, ऑक्सफ़र्ड, लंदन.
रंजीत भूषण (2016), *माओइज़म इन इण्डिया ऐंड नेपाल,* रॉटलेज, न्युयॉर्क.
रामभाउ महालगी प्रबोधिनी (2005-6), *डिवेलपमेंट ऐंड इंटरनल सिक्योरिटी इन छत्तीसगढ़ : इम्पैक्ट ऑफ़ नक्सलाइट मूवमेंट : अ रिपोर्ट,* मुम्बई.
राहुल पंडिता (2011), *हैलो बस्तर : द अनटोल्ड स्टोरी ऑफ़ द इण्डियाज़ माओइस्ट मूवमेंट,* ट्रैंकुबार, नयी दिल्ली.

रॉबिन जेफ़्री, रणंजय सेन और प्रतिमा सिंह (सं.) (2012), *मोर दैन माओइज़्म : पॉलिटिक्स, पॉलिसीज़ ऐंड इंसर्जेंसीज़ इन साउथ एशिया,* मनोहर, नयी दिल्ली.

शुभ्रांगु चौधरी (2012), *लेट्स कॉल हिम वासु,* पेंगुइन, नयी दिल्ली.

सतनाम (2010), *जंगलनामा : ट्रैवेल्स इन अ माओइस्ट गुरिल्ला ज़ोन,* अनुवाद : विष्णव भारती, पेंगुइन बुक्स, नयी दिल्ली.

संतोष मल्होत्रा (सं.) (2014), *काउंटरिंग नक्सलिज़्म ऐंड डिवेलपमेंट : चैलेंजेज़ ऑफ़ सोशल जस्टिस ऐंड स्टेट सिक्योरिटी,* सेज, नयी दिल्ली.

संतोष पॉल (सं.) (2013), द *माओइस्ट मूवमेंट्स इन इण्डिया : पर्सपेक्टिव्ज़ ऐंड काउंटर पर्सपेक्टिव्ज़,* रॉटलेज, नयी दिल्ली.

सलवा जुडूम : संविधान के साथ खिलवाड़ (2011), नंदिनी सुंदर एवं अन्य बनाम छत्तीसगढ़ राज्य के वाद में सर्वोच्च न्यायालय का फ़ैसला, अनुवाद : कमल नयन चौबे, जुलाई.

सीएवीओडब्ल्यू (2006), *सलवा जुडूम ऐंड वायलेंस ऑन वुँमन इन दाँतेवाड़ा,* दिसम्बर.

सुमंत बनर्जी (1980), *इन द वेक ऑफ़ नक्सलबाड़ी : अ हिस्ट्री ऑफ़ नक्सलाइट मूवमेंट इन इण्डिया,* सुबर्णरेखा, कलकत्ता.

श्रीला रॉय (2012), *रिमेम्बरिंग रिवोल्यूशन : जेण्डर, वायलेंस ऐंड सब्जेक्टिविटी इन इण्डियाज़ नक्सलबारी मूवमेंट,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.

ह्यूमन राइट्स फ़ोरम (2006), *डेथ, डिसप्लेसमेंट ऐंड डेप्रिवेशन इन दाँतेवाड़ा,* दिसम्बर.